संस्कृत व्याकरण-शास्त्र

का

इतिहास

(तृतीय भाग)

युधिष्ठिर मीमांसक

ओम्

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र

का

इतिहास

[तीन भागों में पूर्ण]

तृतीय भाग

[इस संस्करण में परिष्कार तथा परिवर्धन के कारण ७० पृष्ठ बढ़ें हैं]

—युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

संस्करण	प्रकाशन-काल	पृष्ठ-संख्या	परिवर्धन
प्रथम भाग—			
अधूरा मुद्रण	सं० २००४	३००	लाहौर में नष्ट
प्रथम संस्करण	सं० २००७	४५७	१५० पृष्ठ
द्वितीय संस्करण	सं० २०२०	५८२	१२५ पृष्ठ
तृतीय संस्करण	सं० २०३०	६४०	५८ पृष्ठ
प्रस्तुत संस्करण	सं० २०४१	७२४	८४ पृष्ठ
द्वितीय भाग—			
प्रथम संस्करण	सं० २०१६	४०६	
द्वितीय संस्करण	सं० २०३०	४५६	५० पृष्ठ
प्रस्तुत संस्करण	सं० २०४१	५९६	४० पृष्ठ
तृतीय भाग—			
प्रथम संस्करण	सं० २०३०	१९८	
प्रस्तुत संस्करण	सं० २०४१	२७०	७० पृष्ठ

मूल्य—

तीनों भाग एक साथ— 150/-

मुद्रक—

चतुर्थ संस्करण[1] १००० — शान्तिस्वरूप कपूर
सं० २०४१ वि० — रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
सन् १९८४ ई० — बहालगढ़, जिला—सोनीपत (हरयाणा)

---

१. प्रथम भाग की दृष्टि से इस वार द्वितीय और तृतीय भाग पर भी चतुर्थ संस्करण छापा है।

अन्तिम रूप से परिष्कृत तथा परिवर्धित

प्रस्तुत संस्करण की भूमिका

पूर्व संस्करणके समान इस बार भी अन्तिम रूप से परिष्कृत एवं परिवर्धित संस्करण के तीनों भागों का मुद्रण एक ही साथ कर रहा हूं।

संशोधन, परिवर्धन, परिष्करण

संशोधन—तृतीय भाग के इस संस्करण में से पूर्व संस्करणस्थ सातवां परिशिष्ट, जिसमें भर्तृहरि कृत महाभाष्यदीपिका के दोनों भागों में उद्धृत पाठों पर निर्दिष्ट हस्तलेख की पृष्ठ संख्याकी पूना से मुद्रित ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या से जो तुलनात्मक सूची छापी थी, उसे निकाल दिया है। इस बार मुद्रित ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या भी तत्तत् उद्धरण के साथ दे दी है।

परिवर्धन—इस वार चार परिशिष्ट नये जोड़े हैं। **सातवें** परिशिष्ट में समुद्रगुप्त-विरचित कृष्णचरित का जो स्वल्प भाग उपलब्ध हुआ है उसे दे दिया हैं, क्योंकि इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कृष्णचरित के अनेक स्थानों पर पाठ उद्धृत किये हैं। पूर्व गोंडल से मुद्रित कृष्ण-चरित सम्प्रति उपलब्ध भी नहीं है। **आठवें** परिशिष्ट में दूसरे भाग के पृष्ठ ३६२ पर निर्दिष्ट निरुक्त १।१७ के **पदप्रकृतिः संहिता, पद-प्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि** वचन की विशेष विवेचना की है। **नवें** परिशिष्ट में जार्ज कार्डोना ने अपने 'पाणिनि : ए सर्वे आफ रिसर्च' नामक ग्रन्थ में मेरे 'व्या० शा० का इतिहास' के सम्बन्ध में जो कुछ मन्तव्य प्रकट किया है, उसे यथावत् हिन्दी में अनूदित करके छापा है। साथ में अपनी कुछ टिप्पणियां भी दी हैं। **ग्यारहवें** परि-शिष्ट में 'सं० व्या० शा० का इतिहास' ग्रन्थ के लेखन, परिष्कार एवं परिवर्धन निमित्त जिन विद्वज्जनों ने पत्रों द्वारा समय-समय पर

सहायता प्रदान की, उनके कतिपय विद्यमान पत्रों को छापा है, जिससे मैं उनके उपकार से कुछ सीमा तक उऋण हो सकूं।

परिष्कार—पूर्व संस्करण में देश नगर व्यक्ति वा ग्रन्थों के नामों की सूचियां दो परिशिष्टों में प्रतिभाग अलग अलग दी थीं; उन्हें इस वार प्रतिभाग अलग अलग न देकर दो परिशिष्टों में इकट्ठी दे दी है।

विशेष—प्रथम दो भागों का मुद्रण तो सितम्बर १९८४ तक हो गया था। तृतीय भाग का भी कुछ अंश छप गया था, परन्तु कार्याधिक्य के कारण अस्वस्थता बढ़ जाने से दो मास तक काम रुका रहा। अस्वस्थता में ही आगे का कार्य आरम्भ किया, परन्तु ज्यों ज्यों शीत बढ़ता गया, शारीरिक प्रतिकूलता बढ़ती गई। एक बार तो मन में आया कि तीनों भागों में उद्धृत देश नगर तथा व्यक्तियों के नामों की तथा उद्धृत ग्रन्थों के नामों की सूची न छापूं, परन्तु जीवन में यह अन्तिम संस्करण होने के कारण नाम-सूची और ग्रन्थ-सूची, जिनका निर्माण करना अत्यन्त परिश्रम एवं काल साध्य कार्य है, देना आवश्यक मानकर इन सूचियों को देकर तृतीय भाग पूर्ण किया है। इससे पाठकों को जो असुविधा हुई है उसके लिये मुझे खेद है, परन्तु अस्वस्थ अवस्था में भी कार्य किसी प्रकार पूर्ण हो गया, इसकी प्रसन्नता भी है। अगला संस्करण दैवाधीन है।

विविध शास्त्र पारङ्गत श्री पं० पद्मनाभ रावजी (आत्मकूर) ने ६ दिसम्बर १९८४ के पत्र में निम्न पुस्तकों का 'सं० व्या० शा० का इतिहास' ग्रन्थ में सन्निवेश करने का सुझाव दिया है (द्र० यही भाग, पृष्ठ १६७)—

१—**आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन-एक अध्ययन**, डा० नेमिचन्द्र शास्त्री।

२—**शब्दार्थरत्नम्** (दार्शनिक)—श्री तारानाथतर्कवाचस्पति

३—**व्याकरणदर्शनभूमिका**—श्री रामाज्ञा पाण्डेय

४—**व्याकरणदर्शनपीठिका**— ,, ,,

५—**व्याकरणदर्शनप्रतिभा**— ,, ,,

६—**व्यासपाणिनिभावनिर्णय**—म० न० सेतुमाधवाचार्य

७—**शब्देन्दुशेखरव्याख्या**—श्री म० म० सुब्बरायाचार्य
८—**शेखरद्वय (लघु-बृहत्) व्याख्या**—श्री पं० पद्मनाभाचार्य
९—**लघुशेखरव्याख्या**—एलमेलि विट्ठलाचार्य

इनके अतिरिक्त श्री पं० गुरुपद हालदार कृत '**व्याकरण दर्शनेर इतिहास**' ग्रन्थ का निर्देश भी होना चाहिये।

जैसे नारायण भट्ट का 'अपाणिनीय-प्रमाणता' ग्रन्थ है, उसी प्रकार के दो ग्रन्थ और हैं—१. **मुखभूषण**, २. **आर्षप्रयोगसाधुत्वनिरूपण**। ये दोनों ग्रन्थ 'आडियर लायब्रेरी बुलेटिन' के भाग ३७ (सन् १९७३) तथा भाग ४२ (सन् ?) में छपे हैं। इनका निर्देश वा प्रकाशन भी होना चाहिये।

इस जीवन में यदि 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' का पुनर्मुद्रण होगा तो इस न्यूनता को भी पूरा करने का प्रयत्न करूंगा।

यद्यपि इस जीवन में (चिरकाल से अस्वस्थ रहने के कारण) नये संस्करण के प्रकाशित होने की आशा तो नहीं है, पुनरपि प्रयत्न करूंगा कि जीवन पर्यन्त नये ज्ञात तथ्यों का यथास्थान संकलन और भूलों का परिमार्जन करता जाऊं, जिससे मेरे पश्चात् निकलने वाला संस्करण प्रस्तुत संस्करण से कुछ परिमार्जित एव परिवर्धित हो सके।

निवेदन—कार्य की व्यस्तता और अस्वस्थता के कारण इस ग्रन्थ के प्रस्तुत संस्करण में हुई कुछ भूलों वा स्खलनों के लिये मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूं और पाठकों से निवेदन करना चाहता हूं कि प्रथम द्वितीय भाग के संबन्ध में तृतीय भाग के दसवें परिशिष्ट में जो **संशोधन परिवर्तन परिवर्धन** दर्शाये हैं, उन को यथास्थान जोड़कर पढ़ने की कृपा करें। विशेष कर प्रथम भाग, पृष्ठ १३४, तथा द्वितीय भाग, पृष्ठ २०७ पर **शन्तनु** नाम के स्थान में **शान्तनव** शोध कर पढ़ें। इस संशोधन के लिये द्वितीय भाग में 'फिट्-सूत्र-प्रवक्ता और व्याख्याता नामक २७ वें अध्याय में पृष्ठ ३४६-३४९ देखें। वहां इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस बार व्यक्ति-नामों और ग्रन्थनामों की सूचियों में समान नाम

के व्यक्तियों और ग्रन्थों का यथासम्भव भेद प्रकट करने का विशेष यत्न किया है, पुनरपि कहीं कहीं सम्मिश्रण होने की संभावना है।

इस ग्रन्थ के मुद्रण-पत्र (=प्रूफ) संशोधन का कार्य श्री ओङ्कारजी ने किया है। कार्याधिक्य तथा अस्वस्थता के कारण मैं मुद्रण-पत्रों का संशोधन नहीं कर सका। इस कार्य के लिये मैं श्री ओङ्कार जी का आभारी हूं। इसी प्रकार सूचियों के निर्माण में श्री शिवपूजनसिंह जी कुशवाह ने जो सहयोग दिया है उसके लिये उनका भी मैं आभारी हूं।

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसकः

भूमिका

[प्रथम संस्करण]

सं० २००७ में 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ का प्रथम भाग छपा था। उसके लगभग १२ वर्ष पीछे सं० २०१६ में द्वितीय भाग का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ। सं २०२० में जब प्रथम भाग का द्वितीय संस्करण छपा, तो उस समय इस ग्रन्थ से सम्बद्ध अवशिष्ट विषयों की पूर्ति के लिए तृतीय भाग की आवश्यकता का अनुभव हुआ। तृतीय भाग में दी जाने वाली सामग्री की उसमें संक्षिप्त सूची भी प्रकाशित की, परन्तु विविध कार्यों में व्यासक्त होने तथा आर्थिक परिस्थिति के कारण इतने सुदीर्घ काल में भी मैं तृतीय भाग का प्रकाशन न कर सका। उक्त कमी को अब दस वर्ष पश्चात् पूरा किया जा रहा है।

व्याकरण-शास्त्र के इतिहास का विषय दो भागों में पूर्ण हो गया। इस भाग में व्याकरण-शास्त्र के इतिहास में यत्र तत्र निर्दिष्ट २-३ दुर्लभ लघु ग्रन्थ, पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या नागोजि भट्ट तथा अनन्त शर्मा पर्यालोचित अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ (दुलभ हस्तलेख), अष्टाध्यायी के पाठान्तर आदि का निर्देश प्रमुख रूप से किया है।

दोनों भागों के नवीन संस्करणों में यत्र-तत्र पूर्व प्रकाशन के पश्चात् उपलब्ध सामग्री का यथास्थान निर्देश कर दिया था। पुनरपि शोधकार्य कभी पूर्ण नहीं होता। नित्य नई सामग्री उपलब्ध होती रहती है। अतः दोनों भागों के नवीन संस्करण के पश्चात् नूतन उपलब्ध सामग्री का 'संशोधन, परिवर्तन, परिवर्धन' परिशिष्ट में सन्निवेश किया है। इसी प्रकार हमने अपने ग्रन्थ में सर्वत्र भर्तृहरि विरचित महाभाष्यदीपिका के जहां भी उद्धरण दिये हैं, वहां हमने अपने हस्तलेख की पृष्ठ संख्या दी थी, क्योंकि उस समय उक्त ग्रन्थ छपा नहीं था। महाभाष्यदीपिका का मुद्रण हो जाने के पश्चात् यह

आवश्यक था कि दोनों भागों में दिये गये महाभाष्यदीपिका के पाठ मुद्रित ग्रन्थ में किस पृष्ठ पर कहां है, इसका निर्देश किया जाये। इसकी पूर्ति भी आठवें परिशिष्ट में की गई है।[१]

दोनों भागों के पूर्व संस्करणों में ग्रन्थ में उद्धृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार वा विशिष्ट व्यक्तियों के नामों की सूची देनी आवश्यक थी। इसके विना शोध-कार्य करनेवालों को महती असुविधा होती थी। इस भाग में उक्त सूचियां देकर इस ग्रन्थ की महती कमी को पूरा कर दिया है।

इस प्रकार इस भाग के साथ हमारा ग्रन्थ पूर्ण होता है।

तीनों भागों में उद्धृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार वा व्यक्ति विशेषों के नामों की सूची बनाने का जटिल एवं समयसाध्य कार्य रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा संचालित 'पाणिनि विद्यालय' के आचार्य श्री पं० विजयपाल जी व्याकरणाचार्य, विद्यावारिधि ने किया है। यदि वे इस कार्य को करना स्वीकार न करते, तो सम्भव है इस संस्करण में भी यह कमी रह जाती। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूरा करके आपने जा सहयोग दिया है, इसके लिए मैं आपका आभारी हूं।

इसी प्रकार प्रूफ संशोधन का जटिल कार्य रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस के संशोधक श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी ने किया है। इसके लिए मैं आप का धन्यवाद करना अपना कर्त्तव्य समझता हूं।

इसके साथ ही रायसाहब श्री चौधरी प्रतापसिंह जी (करनाल) ने भी इस भाग के प्रकाशन में जो अप्रत्यक्ष सहयोग दिया है। उसके लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूं।

रामलाल कपूर ट्रस्ट **बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)**	भाद्र पूर्णिमा सं० २०३०	**विदुषां वशंवदः—** **युधिष्ठिर मीमांसक**

---

१. प्रस्तुत सं० २०४१ के संस्करण में 'महाभाष्यदीपिका' के जहां भी उद्धरण दिये हैं, वहां सर्वत्र अपने हस्तलेख की पृष्ठ संख्या के साथ मुद्रित संस्करण की पृष्ठ संख्या भी दे दी है, अतः प्रस्तुत संस्करण में इस परिशिष्ट की आवश्यकता नहीं रही।

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

तृतीय भाग की विषय-सूची

३/१

ओ३म्

संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास

[परिशिष्टसंग्रहात्मक तृतीय भाग]

पहला परिशिष्ट

अपाणिनीय-प्रमाणता

५

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में 'संस्कृत-भाषा की प्रवृत्ति, विकास और ह्रास' का सप्रमाण विशद उपन्यास किया है। व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करते समय संस्कृत-भाषा की विपुलता और उसके उत्तरोत्तर ह्रास का परिज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा आधुनिक वैयाकरणों के द्वारा कल्पित **'अपाणिनीयत्वाद् अप्रमाणम् अपशब्दो वा, यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्'** आदि विविध नियमों के चक्कर में पड़कर शास्त्रतत्त्व तक पहुंचना दुष्कर हो जाता है। इसीलिये हमने उक्त प्रकरण में २० प्रकार के प्रमाण उपस्थित करके यह सिद्ध किया है कि अति पुराकाल में संस्कृत-भाषा अतिविशाल थी, मानवों के मतिमान्द्यादि कारणों से वह उत्तरोत्तर ह्रास को प्राप्त होकर भगवान् पाणिनि के समय अत्यन्त संकुचित हो गई थी। भगवान् पाणिनि ने यथासम्भव स्वसमय में अवशिष्ट भाषा के व्याकरण का प्रवचन किया।

१०

१५

प्राचीन आर्षवाङ्मय में बहुधा तथा अर्वाचीन वाङ्मय में क्वचित् ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होते। आधुनिक वैयाकरण इस प्रकार के अपाणिनीय प्रयोगों को असाधु=अपशब्द मानते हैं। परन्तु यह मन्तव्य शास्त्र-सम्मत नहीं है, यह हमने प्रथम अध्याय में विस्तार से दर्शाया है। इस प्रसङ्ग में हमने (भाग १, पृष्ठ ४६) भट्ट नारायणकृत **'अपाणिनीयप्रमाणता'** का निर्देश किया है। यह निबन्ध 'त्रिवेन्द्रम्' में छपा था, सम्प्रति अलभ्य है। पुस्तक का लेखक आधुनिक धुरन्धर वैयाकरण है। इस

२०

२५

कारण प्रस्तुत निबन्ध की महत्ता को देखते हुए हम उसे नीचे प्रकाशित कर रहे हैं—

प्रक्रियासर्वस्वकार-नारायणभट्टकृता

अपाणिनीय-प्रमाणता

५ **सुदर्शनसमालम्बी सोऽहं नारायणोऽधुना ।**
वैनतेय ! भवत्पक्षमाक्रम्य स्थातुमारभे[1] ॥१॥

तत्रायं संग्रह—

"पाणिन्युक्तं प्रमाणं, न तु पुनरपरं चन्द्रभोजादिसूत्रम्";
केऽप्याहुस्तल्लघिष्ठं, न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्;
१० **बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशात्, पाणिनेः प्राक् कथं वा;**
पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति, विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः ॥२॥

अत्र तावद् **इन्द्रचन्द्रकाशकृत्स्न्यापिशलिशाकटायनादिपुरातना-** चार्यविरचितानां व्याकरणानामप्रमाणत्वमेव; मुनित्रयोक्तस्यैव तु प्रामाण्यमिति केचित् पण्डितंमन्या मन्यन्ते । तद् अपहसनीयमेव;
१५ चन्द्रादिवचसामनाप्तप्रणीतत्वाभावेन प्रामाण्यनिश्चयात् । पुरुषवचसामप्रामाण्यं तावद् अनाप्तप्रणीतत्वहेतुकमेवेति चन्द्रादिशास्त्राणामप्रामाण्य वदद्भिस्तेषामनाप्तत्वे प्रमाणं वक्तव्यम् । तत्र तेषामनाप्तत्वं तावत् प्रत्यक्षतो न लक्ष्यते । चन्द्रादिवाक्यमप्रमाणम्; शिष्टानङ्गीकृतत्वात्; अवैदिकवाक्यवत—इत्यनुमानमत्र प्रसरीसर्ति इति चेत्
२० तत्र शिष्टानङ्गीकृतत्वमसिद्धमेव । तथा हि—के नामात्र शिष्टा व्यपदिष्टाः ? किं वैदिका एव; उत साधुशब्दव्यवहारिणः ? उत ये केचिद् भवदभीष्टा वा ?

तत्राद्ये तावत् परमवैदिकानां वेदव्यासादीनां मुनित्रयालक्षितबहुपदप्रयोगदर्शनात् । **'दृष्ट्वा बहुव्याकरणं मुनिना भारतं कृतम्'**—इति
२५ चोक्तत्वात्, **शङ्कराचार्याणामपि प्रपञ्चसारादिषु** **'हुनेद्'** इत्यादि मुनित्रयानुक्तपदप्रयोगात्; वैदिकोत्तमानां च **मुरारिमिश्र-सुरेश्वराचार्यादीनां विश्रामादि-शब्दप्रयोगात्,** वैदिकवीरस्य **नैषधकारस्य**

---

१. सुदर्शनम् = सच्छास्त्रमिति च । वैनतेय इति कश्चित् पण्डितः । तस्य 'अपाणिनीयमप्रमाणम्' इति मतं निराकर्तुमेव नारायणभटटेन प्रबन्धोऽयं
३० लिखितः । नारायणः सोऽहम्=नारायणीयस्तोत्र-प्रक्रियासर्वस्वादीनां कर्ता ॥

'नैवाल्पमेधसि पटोरुचिमत्त्वमस्य'—इत्यादि प्रयोगात्, वैदिकस्थापकानां **'विद्यारण्याचार्याणां' 'धातुवृत्तौ' कथापयति'** इत्यादौ **शाकटायनादि**मताङ्गीकारात्, **वोप्पदेव-कौमुदीकारादीनां**[1] च वैदिकवराणामपाणिनीयानेकशब्दप्रदर्शनदर्शनात्, इदानीमप्युत्तरदेशस्थैर्वैदिकश्रेष्ठैः **सारस्वतादि**व्याकरणानां प्रमाणीकरणात्, **कौमुद्याश्च** सर्वदेशपरिगृहीतत्वात्, पाणिनीयोत्पत्तेः प्राग्भवैश्च वैदिकैः व्याकरणान्तराणामेवाङ्गीकृतत्वात्, पाणिनीयव्यतिरिक्तच्छान्दसलक्षणानां **प्रातिशाख्यानां** युष्माभिरङ्गीकृतत्वाच्च व्याकरणान्तराणां शिष्टाङ्गीकृतत्वं स्पष्टतरमेव ।। ५

ननु **व्यासाद्यृ**षिवचसां छान्दसत्वेन सिद्धत्वात् तत्सिद्धये कुतो व्याकरणान्तराङ्गीकारः ? **'दृष्ट्वा बहुव्याकरणम्'** इत्यस्य च एकमेव व्याकरण बहुशो दृष्ट्वा इत्यर्थः—इति चेत्, **तन्न,** मुनित्रयानुक्तच्छान्दसपदसमर्थनार्थं छान्दसलक्षणतयापि व्याकरणान्तराणां तैरादरणीयत्वात्, 'बहुव्याकरण'मित्यस्य क्लिष्टार्थकल्पनानुपपत्तेः । ननु **'व्यत्ययो बहुलम्'**[2] **'बहुलं छन्दसि'**[3] **'सर्वे विधयः छन्दसि विकल्प्यन्ते'**[4] इति सूत्रवार्तिकवचनादेव सिद्धेः व्याकरणान्तरं नान्वेष्यमिति चेत् तर्हि एतैरेव वचनैः कृतार्थौ **पाणिनिकात्यायनौ** छान्दसविषयग्रन्थिकरथायां किमर्थं परिक्लिष्टौ ? तस्माद् **व्यासाद्युक्ता**वपि विशेषलक्षणव्याकरणान्तरं लभ्यमेव । १० १५

न च **प्रातिशाख्य**लभ्यमिति वाच्यम्; तेषामपि व्याकरणान्तरत्वेन भवदुक्तिविरोधित्वात् । ननु **प्रातिशाख्यानि** असाधारणव्याकरणान्येव, साधारणव्याकरणान्तराणामेव च प्रामाण्यमस्माकमनिष्टम् इति चेन्न, अपाणिनीयत्वसाम्येऽपि असाधारणव्याकरणानामिष्टत्वे साधारणेषु विद्वेषे च निमित्ताभावात् । पाणिनीयस्य नियमपरत्वात् तत्सदृशेषु अन्येषु प्रद्वेष इति तु पश्चान्निराकरिष्यते । यत्तु—**'अपशब्दास्त्रयो माघे'** इत्यारभ्य **'व्यासस्तन्यतां गतः'** इति तदपि गुरुलघ्वोः ग-लशब्दोक्तिवत्, नामैकदेशेन नामग्रहणादपशब्दा इति अपाणिनीयशब्दा इति व्याचक्षते महान्तः । उक्तं च— २० २५

---

१. कौमुदीकारशब्देनेह प्रक्रियाकौमुदीकृदिहाभिप्रेतः । कौमुदीशब्देनेह सर्वत्र प्रक्रियाकौमुदी ग्राह्या। २, अष्टा० ३।१।८५।। ३०

३. अष्टा० २।४।७३, ७६ इत्यादि बहुत्र । ४. महाभाष्य १।४।६।।

"अष्टादशपुराणानि नव व्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम्॥" इति।
"यान्युज्जहार भगवान् व्यासो व्याकरणाम्बुधेः।
तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे ?" ॥ इति च

५ ननु छान्दासानाम् अच्छान्दसत्वेन प्रयोगादेव व्यासस्य व्याकरणानभियुक्तत्वमिति चेत्—मैवं सर्वज्ञं व्यासं प्रत्यमङ्गलं वचः। एवञ्च पाणिनेरपि व्याकरणानभियुक्तत्वं स्याद् इति स्वगलच्छेदकमेवेदं भवतो वचनम्। सोऽपि हि 'वृद्धिरादैच्'[1] इति कुत्वाभावं छान्दसमेव प्रयुक्तवान् इति 'कुत्वं कस्मान्न भवति' इत्यादिना भाष्यजालेन
१० भाष्यते इत्यास्तां तावत्। एतेन 'साधुशब्दव्यवहारत्वं शिष्टत्वम्' इति च निरस्तम्। किञ्च, शिष्टव्यवहृतानामेव साधुत्वम् साधुशब्दव्यवहारिणामेव शिष्टत्वम् इति परस्पराश्रयोऽपि प्रसज्येत। शिष्टप्रयुक्तानामेव साधुत्वमिति च व्याकरणमीमांसायामविवादमिति।

एवं तृतीयपक्षोऽपि म्रदीयान्। 'मुनित्रयमतमात्राङ्गीकारिण एव
१५ शिष्टाः' इत्यत्र श्रुतिस्मृतिवचनाभावेन भवत्कपोलमात्रकल्पितत्वात्। मुनित्रयवचनस्यैव प्रामाण्यात् तदङ्गीकारिणामेव शिष्टत्वमिति चेत कर्हिचित् प्रामाण्यवशात् तदङ्गीकारिणां शिष्टत्वम्, शिष्टाङ्गीकृतत्वाच्च प्रामाण्यम्—इत्यन्योन्याश्रयलाभ एव धन्यात्मनाम्। अथ ये केचिदेव भवदभीष्टाः शिष्टा इति चेत्—ये केचिद् अस्मदभीष्टा इति
२० दुर्युक्ति-युक्त एवायं वादकलहः स्यात्। तदिदमुक्तम—

"न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्" इति।

बहुविदां व्यासशङ्करादीनां निर्मूलपदप्रयोगाभावात् तन्मूलतया व्याकरणान्तराणां तैरङ्गीकृतत्वात्, शिष्टाङ्गीकृतत्वहेतुरसिद्ध एवेति भावः। शब्दाश्च वैदिको वा मन्वादिकथितो वा न व्याकरणान्तरा-
२५ णामप्रामाण्यबोधको दृश्यते। न च मुनित्रयवचनं तदनुसारि ग्रन्थान्तरं वा पुनरितरप्रमाण्यप्रतिक्षेपकं साक्षादीक्षामहे।

यत्तु क्वचिद् 'विश्रामा'दीनामयुक्तत्वभाषणम्, तल्लक्षणान्तरदर्शनेन प्रयोक्तव्यम्, इत्येतावत्परम्। अन्यथा सर्वदैव मुनित्रयवचननिबद्धादराणां मुरार्यादीनां तत्प्रयोगानुपपत्तेः।

३० किञ्च, मुनित्रयतदनुसारिवचसां प्रामाण्यातिशये सिद्ध एव तैरन्य-

१. अष्टा० १।१।१॥

शास्त्राणां बाधः, अन्यशास्त्राणाम् एतद्बाध्यत्वेन दौर्बल्यातिशये सिद्ध एव च एतद्वचसां प्रामाण्यातिशयसिद्धिः, इत्यन्योन्याश्रयेणैव हन्यन्ते महान्तः। मुनित्रयवचनादेव मुनित्रयवचनप्राबल्यसिद्धिरिति स्वाश्रयमपि प्रसक्तमेव। न च "**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः**"[1] इतिवत् मुनित्रयवचनेन 'एत एव साधुशब्दाः' इति नियमितत्वाद् अन्येषामप्रामाण्यमिति वाच्यम्। '**आबादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः**'—इत्यादेः तत्र तत्र वर्णनात्, आकृतिगणादिपरिग्रहाच्च नियमाभावस्य स्पष्टत्वात्। अन्यथा **पाणिनिकात्यायनाभ्याम्**एत एव साधव इति नियमनाद् भाष्यकारकृतेष्टयादिवचनमप्रमाणं स्यात्। पाणिनिनियमितत्वाद्वा कात्यायनवचनान्यपि बाध्येरन्।

ननु पतञ्जलेः सर्वोत्कृष्टत्वात् तद्वचनबाधाभावाय व्याकरणन्तरमपि प्राप्तम्। मुनित्रयवचनस्य नियमपरत्वे छान्दससूत्रैरेत एव साधुशब्दा इति नियमितत्वात् **प्रातिशाख्यान्**यपि प्रत्याख्येयानि स्युः।

ननु मुनित्रयवचने वेदविशेषलक्षणानिरीक्षणात् सामान्यलक्षणपराणि व्याकरणान्तराणि एव तेन व्यावर्त्यन्ते; न वेदविशेषलक्षणपराणि प्रातिशाख्यानि इति चेन्न—'**सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे**'[2] **यजुष्युरः**'[3] '**देवसुम्नयोर्यजुषि काठके**'[4] '**सामसु**' इकः प्लुतपूर्वस्य **सवर्णदीर्घबाधनार्थं यणादेशो** वक्तव्यः'[6] इत्यादि वेदविशेषलक्षणानामपि स्पष्टं दृष्टत्वात्। न च, '**दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति**'[7] इति वचनात्, छान्दसेषु न नियमः प्रवर्तते, इति वाच्यम्। शास्त्रसाकल्यस्य नियमपरत्वे तदन्तर्गतछान्दसेऽपि नियमस्य दुर्वारत्वात्। '**शिष्टप्रयोगानुसारि व्याकरणम्**' इति तत्र तत्र दर्शनेन, लौकिकेष्वपि शिष्टानुविधिसाम्याच्च। तस्माद् आकृतिगणादिभिः सावशेषे शास्त्रे एतेषामेव शब्दानां प्रयोगे धर्मो भवतीति नियन्तुमशक्यत्वात्, 'एतत्प्रकाराणां साधुशब्दानां प्रयोगे धर्मः, तदितरापशब्दप्रयोगे तु अधर्मः' इत्येतावदेव

---

१. रामा० किष्किन्धा १८।३९॥ बु बोधा० प्रश्न १, अ० ५, सू० १५२।

२. अष्टा० १।१।१६॥

३. अष्टा० ६।१।११३॥ ४. अष्टा० ७।४।३८॥

५. द्र०—'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' अ० १।२।२४॥

६. द्र०—महाभाष्य ८।२।१०८॥ इह वार्त्तिकाभिप्रायस्यार्थतोऽनुवादः।

७. महा० १।१।६॥

नियमपरत्वं वक्तव्यम् । अत एव तद्धितप्रकरणे '**शिष्टाप्रयोगतोऽनुगन्तव्यम्**' इत्यस्मिन्नर्थे **वृत्तिकारेण**[1] उक्ते **पदमञ्जरीकृदाह**[1]—

'किमर्थं तर्हि व्याकरणमिति चेदुच्यते—व्याकरणोक्तान शब्दान् विदित्वा तत्सम्यग्व्यहारिणः पुरुषान् दृष्ट्वा शिष्टा एते इत्यवगम्य तत्प्रयुक्तमन्यदपि ग्राह्यतया ज्ञातुं शिष्टपरिज्ञानार्थं व्याकरणमिति ।' अतो नियमपरत्वं परास्तम् । किञ्च, अत्र भाष्यादिगिरा तदुक्तेः प्राबल्यमित्येवमुदीर्यते चेत् ततो मदुक्तवशात् मदुक्तिः प्रमाणमित्येव वचो लघीयः । तत्सिद्धम् अपौरुषेयः पौरुषेयो वा शब्दो न व्याकरणान्तराणामप्रामाण्यं बोधयतीति । तदिदमुक्तम्—

'न खलु बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्' इति ।

बहुविदां भाष्यकारादीनां निर्मूलं शास्त्रान्तराप्रामाण्कथनं स्ववचनप्राबल्यवचनं वा स्वाश्रयाभिभावान्न सम्भवतीति भावः । अत्र क्वचित् परशास्त्रदूषणमस्ति चेदपि युक्तिरसमात्रेणैव इत्यवगन्तव्यम् ।

किञ्च **'असिद्धवदत्राभाद्'**[2] इत्यादिपरःशतानि सूत्राणि भाष्यनिरस्तान्यपि न त्यज्यन्ते । तद् वस्तुपरशास्त्रम् इति । ननु, बह्वङ्गीकारान्यथानुपपत्त्या मुनित्रयवचसामेव प्रामाण्यम्, अन्यशास्त्राणामप्रामाण्यमपि सिद्धम् इत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रामाणम् इति चेत्—तदपि न, सुग्रहत्वपरिमितत्वादिगुणातिशयवशादेव बह्वङ्गीकारविशेषणस्य उपपत्तेः । तद्वशादन्येषामप्रामाण्यस्य साधयितुमशक्यत्वात् । अन्यथा तर्कग्रन्थेषु **मणिरेव**[3] बह्वङ्गीकृत इति **'कुसुमाञ्जलि-किरणावलि-**[4]**पक्षिलभाष्यादीनि** अप्रमाणानि भवेयुः ।

शब्दशास्त्रेऽपि **कय्यटटीका** बह्वङ्गकृतेति **भर्तृहरिटीकाद्यप्रमाणं** स्यात् । स्मृतिष्वपि **मानवादीनां** पुराणेष्वपि **भागवतादीनां**, शिक्षासु च **शौनकीयादीनां**[5] बह्वङ्गीकृतत्वाद् इतरेषाम् अप्रामाण्यं वदन् भवान्

---

१. अत्र पठितं वृत्तिकृद्वचनं पदमञ्जरीकृद्व्याख्यानं च तद्धितप्रकरणे नोपलभ्यते । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् (अ० ६।३।१०९) इत्यस्य सूत्रस्य वृत्तौ पदमञ्जर्यां चायमभिप्रायो वर्ण्यते । २. अष्टा० ६।४।२२॥

३. मणिशब्देनेह गङ्गेशोपाध्यायकृतो न्यायविषयकश्चिन्तामणिग्रन्थोऽभिप्रेतः । ४. न्यायवात्स्यायनभाष्यमिति भावः ।

५. एतद्विषये द्रष्टव्यम् 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २८० (च० सं०) ।

अवैदिकतमश्च आपद्येत ! पाणिनीयानां तु गुणातिशयोऽस्माकमिष्ट एव। इतरेषामप्रामाण्येव तु अनिष्टम् । एतेन मीमांसादिषु व्याख्यानाय पाणिनीयमेव गृहीतमिति तस्यैव प्रामाण्यमित्येतदपि निरस्तम् । गुणवत्त्वात् प्रसिद्धतया मीमांसादौ तदुपादानोपपत्तेः । तेन अन्येषाम् अप्रामाण्यकल्पनानवकाशात् । तदिदमुक्तम्— ५

'बह्वङ्गीकारभेदो भवति गुणवशाद्' । इति ।

किञ्च, एवं वादिना पाणिनेः प्राक् कथं शब्दव्यवहारवार्ता इति वक्तव्यम् । नहि तदा साधुशब्दव्यवहार एव नास्ति इति युक्तम् । ऊहादिसाधुत्वाभावेन सकलधर्मानुष्ठानविप्लवप्रसङ्गाद् अपशब्दप्रयोगकृतसर्वनरकपातप्रसङ्गाच्च सर्वेषां म्लेच्छताप्रसङ्गात् । १०

न च तदा व्याकरणं विनैव साधुशब्दान् जानन्ति इति वाच्यम् । **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'** इति श्रुतिवचनात्[1], तदानीं षडङ्गाध्ययनाभावेन सर्वेषामब्राह्मणत्वप्रसङ्गात् ।

न च पञ्चाङ्गान्येव तदानीमध्येयानि इति वा, पाणिनीयस्यैव अङ्गत्वमिति वा वचनमस्ति । 'भाष्यकारोऽपि **"तस्मादध्येयं व्याकरणम्"** इत्येव' मुहुर्मुहुराह, न तु अध्येयं पाणिनीयमिति । तस्मात् पाणिनीयोत्पत्तेः पूर्वं पूर्वव्याकरणानामेव बह्वङ्गीकारात् तदन्यथानुपपत्तिजं प्रामाण्यं तेषामप्यनिवार्यम् । किञ्च, पूर्वं तावत् पूर्वशास्त्राण्येव बह्वङ्गीकृतानि सम्प्रत्यपि संप्रथन्ते । पाणिनीयं तु इदानीमेव बह्वङ्गीकृतम् पूर्वं न प्रवर्तत इति बह्वङ्गीकारविशेषणप्रामाण्यसाधने तेषामेव वैशिष्ट्यं स्यात् । ननु प्रमाणचराण्यपि पूर्वशास्त्राणि पाणिनीयोत्पत्तेः परस्तात् परास्तप्रामाण्यमनुसृणान्यपि अभूवन् इति चेत् मैवम् । १५ २०

कथं प्रमाणभूतानां कालात् प्रामाण्यनिह्नवः ?
श्रुतिस्मृत्यादयोऽप्येवमप्रमाणाः स्युरेकदा ।।३।।

अत एव हि **"कृते तु मानवो धर्मः"** इति केनचित् साक्षादुक्तमपि अनादृत्य कलियुगेऽपि मनुवचनं प्रमाणीक्रियते । अतो न कालवशात् प्रामाण्यक्षयः । गुणभेदादङ्गीकारभेद एव तु भवति इति । २५

तदिदमुक्तम्—'पाणिनेः प्राक् कथं वा' इति । एवमप्रामाण्य-

---

१. महाभाष्यकारेण वचनमिदमागमनाम्नोद्धृतम् । द्र०—अ० १, पा० आह्निक १ ।। २. व्याकरणप्रयोजनवर्णनक्रमे । ३०

हेत्वभावे सिद्धे, न खलु **बहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्**' इत्यनेन एव शास्त्रान्तराणां प्रामाण्यं साध्यम् । चन्द्रादिवाक्यं प्रमाणम्, समूलवाक्यत्वात्, पाणिनीयवत् । समूलं च तद्वाक्यं बहुविद्वाक्यत्वात्, तद्वदेव बहुविदश्च ते शास्त्रकारित्वात् पाणिनिवदेव ।

५ नहि बहुविधं वक्तव्यजातं सम्यगजानन् शास्त्रं कर्तुमारभते, आरभमाणोऽपि वा परिहासास्पदं स्यात् । तस्मात् शास्त्रकारकत्वेन प्रसिद्धानां तेषामपि शब्दतत्त्वविस्तरवेदित्वात्, भ्रान्तिविप्रलम्भकत्वशङ्कायाश्च पाणिनिवदेव तेषामपि निरवकाशत्वात्, सावकाशत्वे वा पाणिनेरपि तच्छङ्काया दुर्वारत्वाद्, आप्तप्रणीतत्वहेतुना व्या-
१० करणान्तराण्यपि प्रमाणानीति सिद्धम् ।

ननु पाणिनीयगतज्ञापकादिनैव शिष्टप्रयोगाणां साधयितुं शक्यत्वाद् व्याकरणान्तराणां वैफल्यादेव अप्रमाणत्वं ब्रूम इति चेत्—तदपि न, क्वचित् प्रयोगाल्लक्षणकल्पना, क्वचिल्लक्षणात् प्रयोगकल्पनम्—इति पाणिनीयपातिव्रत्यजुषामपि अविवादम् । तत्र शिष्ट-
१५ प्रयोगे दृष्टे ज्ञापकादिनैव साध्यत्वं नाम ।

यत्र तु 'कथापयति' इत्यादौ व्याकरणान्तरलक्षणमेव दृष्टम्, तत्र कथमस्य गतार्थत्वकृतप्रामाण्यमापद्यते ? अपि च शिष्टप्रयोगदृष्टिस्थलेऽपि विश्रामादौ व्याकरणान्तरसाक्षाल्लक्षणस्य स्पष्टदृष्टत्वात्[1] क्लिष्टतरज्ञापकादिवर्णनं गौरवायेति प्राप्तेऽपि प्रौढिकामैमुनि-
२० त्रयपूजनार्थं तदीयज्ञापकादिनैव साध्यते चेद्—अस्माकमपि अदृष्टतरमेव । न तु तेन व्याकरणान्तराणां गतार्थत्वम् अप्रामाण्यं वा इत्यास्तामेतत् ।

किञ्च, पूर्वाचार्याणां प्रामाण्यं पाणिन्यादीनाम् अनुमतमेव । 'आङि चापः'[2], 'औङ आपः'[3] इत्यादौ पूर्वाचार्यमतसाक्षात्संज्ञाया एव
२५ उपात्तत्वात् ।

'**व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य**'[4]; **वा सुप्यापिशलेः**'[5]; '**वष्टि**

---

१. 'वेः क्रमेर्वा' इति वर्धमानः । द्र०—भागवृत्तिसंकलनम्, पृष्ठ ३७, उद्धरण० ११४ ।

२. अष्टा० ७।३।१०५॥ ३. अष्टा० ७।१।१८॥

४. अष्टा० ८।३।१८॥ ५. अष्टा० ६।१।९२॥

३०

भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः"[1] इत्यादौ पूर्वाचार्यमतस्य साक्षादुपादानाच्च । न हि पूर्वाचार्यसङ्कीर्तनमात्राद् विकल्प उत्तिष्ठति । तन्मतमेवं मम मतमेवम् इति तन्मतोपादानादेव विकल्पसिद्धिः ।

किञ्च, **'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्'**[2]; **'लुब्योगाप्रख्यानात्'**[3] इति पूर्वाचार्योक्तं पाणिनिः स्वयमेव दूषयित्वा पुनः **'जनपदे लुप्'**[4] इत्यादीनि दूषितचराण्येव पूर्वाचार्यवचनानि स्पष्टमुपादत्ते । तेन ज्ञायते क्वचिद् युक्तिरसाद् दूषणे कथितेऽपि पूर्वाचार्यवचनमुपादेयमेवेति ।

एवं पाणिनिना स्वेन दूषितस्यापि सङ्ग्रहात् ।
पूर्वाचार्यमतं क्वापि व्याख्यादौ इष्यते यदि ।।४।।
युक्तिप्रौढिरसेनैवेत्यवगच्छन्तु कोविदाः ।
तावता हेयता नेति ज्ञापयामास पाणिनिः ।।५।।

तेन पाणिन्युक्तं प्रमाणमित्यङ्गीकुर्वतापि तदभिमतत्वादेव पूर्वशास्त्राण्यपि प्रमाणमित्यङ्गीकर्तव्यम् । तदिदमुक्तम्—

'पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति' इति ।

किञ्च, अनादिश्चैषा व्याकरणपरम्परा इत्युक्तत्वात्, पूर्वव्याकरणमूलमालोच्य पाणिनिनापि शास्त्रं कृतम् इति वक्तव्यम् । **'तेन प्रोक्तम्'**[5] इत्यत्रैव 'पाणिनीयं शास्त्र' मित्युदाह्रियते; न **'कृते ग्रन्थे'**[6] इत्यत्र । तस्मात् पाणिनिनापि शास्त्रस्य प्रत्याहारविशेषशालित्वेन उक्तत्वमेव; न कृतत्वम् इत्यवगम्यते । ततश्च अपाणिनीयत्वात् पूर्वशास्त्राणामप्रामाण्यं वदता पाणिनीयस्यापि निर्मूलत्वाद् अप्रामाण्यमेव आपादितमिति सकलव्याकरणभञ्जनं सञ्जनितं महाशाब्दिकैः ।

ननु पाणिनिः पूर्वशास्त्राणि प्रयोगान्तराणि च दृष्ट्वा तेषु हेयभागमपहाय शास्त्रं कृतवान् इति पाणिन्यनुक्तं हेयमेव इति चेत् न; पाणिन्यनुक्तस्य हेयत्वे वार्तिककीर्तितस्यापि हेयत्वप्रसङ्गात् । न च सूत्रवार्तिककारयोरसर्ववित्त्वेऽपि भाष्यकारस्तु भगवान् शेष एव इति

---

१. प्रक्रियाकौमुदी भाग १, पृष्ठ १८२ । धातुवृत्तिः, इण् धातौ, पृष्ठ २४७ । न्यास ६।२।३७, पृष्ठ ३४६ ।

२. अष्टा० १।२।५३।। ३. अष्टा० १।२।५४।।

४. अष्टा० ४।२।८०।। ५. अष्टा० ४।३।१०१।।

६. अष्टा० ४।३।११६।।

तस्मिन् अज्ञातृत्वशङ्काभावात तदनुक्तं हेयमेव इति वाच्यम् ? ज्ञातृत्वेऽपि आनन्त्यवशाद् अनुक्तिसम्भवात्, अन्यथा आकृतिगणादीनि कुतस्तेन परिच्छिन्नानि ? इत्यास्तां तावत् । तेन एवमेव वक्तव्यम्—

द्रष्ट्वा शास्त्रगणान् प्रयोगसहितान् प्रायेण दाक्षीसुतः,
५ **प्रोचे, तस्य तु विच्युतानि कतिचित्** कात्यायनः **प्रोक्तवान् ।**
तदभ्रष्टान्यवदत् पतञ्जलि**मुनिस्तेनाप्यनुक्तं क्वचि-**
ल्लोकात् प्राक्तनशास्त्रतोऽपि जगदुर्विज्ञाय भोजादयः ॥६॥

अतः सिद्धं पाणिनीयमूलभूतत्वात् पूर्वशास्त्राणां प्रामाण्यमनिवार्यमिति । तदप्युक्तम्—'पूर्वोक्तं पाणिनिश्चाप्यनुवदति' इति । ननु,
१० अस्तु तावदेवमविरोधस्थले—पाणिन्यादिवचनविरोधे तु शास्त्रान्तरोक्तं बाध्यमेव इति चेन्न, तेषामपि प्रमाणत्वेन अबाध्यत्वस्य स्थितत्वात् । [1]उदितानुदितहोमवत् [2]षोडशिग्रहणाग्रहणवत् च विकल्पस्यैव प्रकल्प्यत्वात् । अत एव स्मृतिचन्द्रिकादिषु स्मृतिकारवचनयोर्विरोधे सति द्वयोरपि विकल्पेन ग्राह्यत्वं तत्र तत्र उच्यते ।

१५ **तत्र तत्र विकल्पार्थं पूर्वाचार्यानुदीरयत् ।**
मतभेदे द्वयं ग्राह्यं ज्ञापयत्येव पाणिनिः ॥७॥

न च एकस्यैव शब्दस्य शास्त्रद्वयेन साधुत्वम् असाधुत्वं च बोध्यते, इति वस्तुतो द्वैरूप्ययोगेन विरोधस्यैव युक्तत्वात् न ग्रहणाग्रहणानुष्ठानवद् विकल्प-सम्भव इति वाच्यम्, न हि केनापि शास्त्रेण
२० शास्त्रान्तरोक्तस्य असाधुत्वं बोध्यते । किन्तु, लक्षणशिष्टप्रयोगरहिताः शब्दा असाधव इति दिक्प्रदर्शनन्यायेन बोधितं भवति इति नियमपरत्वदूषणावसर एव भाषितम् । किञ्च षोडशिग्रहणमपि शास्त्राभ्यामदृष्टहेतुत्वेन प्रत्यवायहेतुत्वेन च बोधितमिति कथं तत्र श्रुतिशरणानां विकल्पेनापि प्रवृत्तिसिद्धिरिति पृष्टे यः परिहारः स एवात्रापि भवि-
२५ ष्यति इति सिद्धं विरोधप्रतिभानेऽपि विकल्पेन ग्रहणमिति । तदिदमुक्तम्—'विरोधेऽपि कल्प्यो विकल्पः'—इति । किञ्च, विरोध एव पाणिनीयेतरवचसोर्न संभवति । तत्र विधिसूत्रेषु तावद् ऐतेभ्य एवायं

---

१. 'उदिते होतव्यम्' इत्येका श्रुतिः 'अनुदिते होतव्यम्' इत्यपरा । अनयोस्तुल्यबलविरोधित्वाद् विकल्पेन प्रामाण्यमाश्रियते ।

३० २. अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्येका श्रुतिः, 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यपरा ।

प्रत्ययो भवति इत्यादिनियमो न संभवति। अप्राप्ते नियमायोगात्। न च 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन नियमः शङ्कनीयः। अयोगव्यवच्छेदेनापि अवधारणसम्भवात्। अन्याऽप्राप्तविधिनियमविधिद्वयकथापि उच्छिद्येत। तस्माद् अप्राप्तविधिषु तावत् परशास्त्रैरधिकोक्तौ न विरोधः, यत्र तु उत्सर्गतः प्राप्तौ अपवादतया नियमार्थं सूत्रं तत्रापि ५ परैरधिकोक्तौ **'क्वचिदपवादविषयेऽपि उत्सर्गो भवति'**[1] इति न्यायादविरोधः।

न च पाणिनिना न इत्युक्ते परैः अस्ति इत्युच्यमाने विरोधः। ज्ञापकगणनञ्निर्दिष्टानि अनित्यानि इति नञ्निर्दिष्टस्य अनित्यत्वकथनेन परविरोधोद्भूतत्वाभावात्। न च भाष्याद्युक्तिभिर्विरोध इति १० वाच्यम्।

युक्तयो न्यायवाक्योत्था न्यायाश्च ज्ञापकोद्भवाः।
ज्ञापकोक्तास्त्वनित्याश्च न चानित्या विरोधिनः॥ ८॥
युक्तैव शब्दसिद्धिश्चेद् विप्लुता शब्दसाधुता।
तस्माद् दृढप्रयोगान् वा पूर्वव्याकरणानि वा॥ ९॥ १५
आलम्ब्यैव हि युक्त्यापि साधयन्ति मनीषिणः।
अत एव हि युक्त्युक्त्या साधवे वक्तृचिन्तनम्॥ १०॥
तस्माच्छब्दाभियुक्तानां युक्त्या द्वेधाऽपि साधने।
समूलत्वाद् द्वयं ग्राह्यम्; अविरोधश्च वर्णितः॥११॥

न क्वचित् ज्ञापकं विनाऽपि **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'**[2] इति साक्षा- २० द्वचनमेव युक्तिः स्याद् इति तत्र अनित्यत्वाभावाद् विरोध इति वाच्यम्, साक्षाद्वचनेऽपि विधिनिषेधकोट्योरविरोधस्य प्रागुक्तत्वात्। तत्सिद्धमविरुद्धत्वात् सर्वव्याकरणानां समप्रामाण्यम्। तदिदमुक्तम्— विरोधस्यासम्भवद्योतकेन 'विरोधेऽपि' इति अपि शब्देन। नन्वस्तु तावदेवं पूर्वव्याकरणानाम् आर्षत्वेन प्रामाण्यम्, अर्वाचीनभोजबोपदे- २५ वादिवचनानां तु कथं कथ्यते इति चेत् तत्रापि—

'न खलुबहुविदामस्ति निर्मूलवाक्यम्'

इति ब्रूमः। भाष्यादिकथितसकललक्षणानुकथनादिपरिनिश्चित-

---

१. परिभाषावृत्तिषु 'उत्सर्गोऽभिनिविशते' पाठः। पुरुषोत्तमदेव ११५, सीरदेव ३३, नागेश ५८। ३०

२. अष्टा० १।४।२॥

बहुविद्भावा हि भोजादयः शास्त्रान्तरमहाजनप्रयोगादिमूलमालम्ब्यैव शास्त्राणि प्रणीतवन्त इति पाणिनीयवत् तेषामपि प्रामाण्यमेव। त्रिमुनिव्याकरणे उत्तरोतरं च प्रामाण्यमित्यत्रापि बहुवित्त्वमेव उत्तरोत्तरप्रामाण्ये हेतुः। दृष्टहेतुसम्भवे अदृष्टहेतुकल्पनानुपपत्तेः।
५ तच्च बहुवित्त्वं भोजादीनामपि समानमिति तेषां विशेषादरणीयत्वमेव इति।

'न खलु बहुविदाम्' इत्यस्य अन्योऽप्यर्थः। निर्मूलं खलु व्याकरणान्तराप्रामाण्यं बहुविदो न वदेयुः। एतदपेक्षया तावद् बहुविदां **विद्यारण्या**दीनां तदकथनात्। तस्माद् बहुग्रन्थवेदित्वाभावादेवायं प्रति-
१० वादी निर्लज्जमेव निर्मूलवाक्यं प्रलपतीत्युपहसनीयमेवेति।

पूर्वव्याकरणादिमूलरहितं युक्त्यैव यत् साध्यते,
कैश्चित् तत्र मुनित्रयाप्रतिहते हेयत्वमुद्घोष्यते।
अन्येभ्यो गुणवत्तया च बहुभिर्यद् गृह्यते खल्विदं,
तस्मात्खल्वयमन्यशास्त्रमखिलं मिथ्येति विभ्राम्यति॥१२॥

१ इति।

एवम् अस्माभिः व्याकरणान्तरप्रामाण्ये साधिते सति यत् पुनः परेण अप्रामाण्यसाधनं कृतं तदर्थात् गर्भस्रावेण गतमपि इदानीं प्रत्येक-युक्त्युपादानेन खण्ड्यते।

तत्र यत् तावदुक्तं **शङ्कराचार्य**प्रभृतिभिः श्रुतिव्याख्यानादिषु
२० पाणिनीयमेव गृहीतमिति तस्यैव प्रामाण्यम्, अन्यव्याकरणानां व्याख्यानागृहीतत्वाद् अप्रामाण्यमिति तदसारम्। **शङ्कराचार्यमुरारि**प्रभृतिभिरपि स्वप्रयोगमूलत्वेन व्याकरणान्तराणामङ्गीकारात्। व्याख्यानादिषु ग्रहणाग्रहणयोः बहुप्रसिद्ध्यल्पप्रसिद्धिनिबन्धनत्वेन प्रामाण्याप्रामाण्यप्रयोजकत्वाभावात्; विद्यारण्यादिभिश्च 'कथापयत्य'ादिनिरूपणे,
२५ **प्रसादकारा**दिभिश्च तत्तद्व्याख्यानावसरे, **नैषधव्याख्यातृविश्वेश्वरा**दिभिश्च 'अल्पमेधः' पदादिव्याख्याने, **क्षीरस्वामी-सर्वानन्द-सुबोधिनीकारा**दिभिश्च **अमरसिंहनिघण्टुव्याख्याने** तत्र तत्र अङ्गीकृतत्वाद्, **वेदनिघण्टुव्याख्यात्रा**[1] च 'भोजसूत्रस्य' सर्वत्र अङ्गीकृतत्वात्, व्याख्यानादिषु अपरिगृहीतत्वस्यापि असिद्धेः, पाणिनीयप्राक्काले च
३० तेषामेव प्रामाण्यमङ्गीकार्यम्।

१. देवराजयज्वनेति भावः।

न च सिद्धस्य प्रामाण्यस्य नाशे कारणमस्ति, इत्याद्युक्तमेव। यत्तु मुनित्रयवचनस्य एत एव साधुशब्दा इति, नियमपरत्वाद् एतद्विरोधाद् अन्यशास्त्राणां त्याज्यत्वमुक्तम्, तदपि नियमस्य शास्त्रस्वभावत्वे पाणिनिनियमितत्त्वाद्वार्तिकाप्रामाण्यं स्यादिति बहुधा परोक्तनियमपरत्वनिरसनाद् अपास्तमेव। विरोधे च एकमेव ग्राह्यमित्येतच्च षोडशिग्रहणाग्रहणादौ 'स्मृतिचन्द्रिका'द्युक्तस्मृतिद्वयोक्तविकल्पनीयत्वे च व्यभिचरितमित्युक्तप्रायम्। विरोधश्च नियमाभावात् नास्तीत्युक्तम्। यत्तु 'व्यासोक्तानां प्रातिशाख्यरूपासाधारणव्याकरणमूलत्वमिति तदपि न, अपाणिनीयत्वसाम्येऽपि असाधारणव्याकरणानामिष्टत्वे साधारणेषु विद्वेषे च निमित्तं नास्ति इत्युक्तत्वात्। छान्दससूत्रैर् 'एत एव वेदे साधवः' इति नियमितत्वेन परमते प्रातिशाख्यप्रामाण्यस्यापि दुःसाध्यत्वात् च। यत्तु आचार्यसंकीर्तनस्य विकल्पाद्यर्थत्वेन उपपत्तेः, न तत्प्रामाण्यमङ्गीकृतमिति, तदपि न, मन्मतमेवं तन्मतमेवमिति तन्मतस्य प्रामाण्यानङ्गीकरणे विकल्पस्यैव असिद्धेः। स्ववाग्विरुद्धत्वात्। न च संकीर्तनमात्रात् विकल्प उत्तिष्ठति, प्रामाण्यानङ्गीकारे पूजार्थत्वं तु दूरापास्तम्।

यत्तु मीमांसादौ अनभिमताचार्यसंकीर्तनवदिदमुपपन्नमिति, तन्न, तत्र दूष्यत्वेनैव तन्मतोपादानात्। इह तु तदभावात्। न च तत् प्रमाणम्—'बादरायणस्यानपेक्षत्वात्'[1] इत्यादौ ग्राह्यतया संकीर्तनेऽपि देवताविग्रहवत्त्वादौ तन्मतस्य परित्यागदर्शनाद् अत्रापि तथा, इति वाच्यम्। तत्रापि मतभेदेन सर्ववैदिकपक्षाणां गृह्यमाणत्वदर्शनात्।

यत्तु[2] कौमुदीकारादिभिः स्वबुद्धिविस्तारबोधनार्थमेवं मतान्तरप्रदर्शनं कृतं न तत्प्रामाण्यादिति तदप्यबद्धम्। अप्रमाणभूतस्य कथने एव बुद्धिमान्द्यस्यैव प्रकाशनप्रसङ्गादिति। एवं परोक्तौ अस्मदुक्तविरुद्धोंऽशः खण्डितः।

ततोऽन्यग्रन्थसन्दोहैर्मदुक्तान्येव साधयन्।
'वैनतेयो' ममात्यन्तं बन्धुरेवेति शोभनम् ॥१३॥

❀

१. मीमांसा १।१।५॥

२. प्रक्रियाकौमुदीकारादिभिरित्यर्थः।

अनुबन्धः[1]

हे श्रीमच्चोलदेशप्रथितबुधवराः ! शब्दशास्त्रान्तराणाम्
कोऽप्यप्रामाण्यमूचे; किमपि निगदितं तत्र चास्माभिरेवम ।
कौमुद्यां धातुवृत्त्यादिषु कथितया वैदिकाङ्गत्वसाम्याद्
५ युष्माकं सम्मतं स्यादिति लिखितमिदं शोधयध्व महान्तः ॥१॥

श्री 'सोमेश्वरदीक्षिता'भिधमहाविद्वत्कुलाग्रेसरा !
मीमांसाद्वयशब्दतर्ककुशला ! युष्मानवृष्योन्नतीन् !
तत्त्वज्ञान् करुणानिधीन् प्रशमिनः श्रुत्वेदमभ्यर्थये,
यत् किञ्चिल्लिखितं मयाऽत्र, तदिदं स्वीकार्यमार्यात्मभिः ॥२॥

१० यस्माभिः खलु 'कामदेव'विजये व्यालेखि कक्ष्याक्रमम्,
तं द्रष्टुं भृशमुत्सुका वयमतः सम्प्रेष्यतां साम्प्रतम् ।
युष्मादृक्षविचक्षणोक्तिपदवीसंप्रेक्षणेन क्षणाद्,
अस्माकं खलु बुद्धिशुद्धिरुदियादित्येष तत्राऽऽशयः ॥३॥

प्रयुक्तहेतौ सति कामदेवे कृतेऽस्य भङ्गः पटुदर्शनेन,
१५ सोमेश्वराख्याग्रहणस्य चैतत् सर्वज्ञभावस्य च युक्तरूपम् ॥४॥

युष्मद्वैदुष्यभूतं खलु कटकभुवि त्रायते भोगिराजम्,
वाणीवेणीविधूतामपि सुरसरितं कङ्कटीको जटायाम् ।
इत्येवं 'यज्ञनारायणविबुधमहादीक्षिताः' ! शत्रुवर्ग-
त्राणाद् देवस्य तस्याप्यहरदथ धिया साधु सर्वज्ञगवम् ॥५॥

२० युष्मास्वेव क्षितीशो विपुलनयनिधिस्तिष्ठते राज्यदृष्टौ,
तिष्ठध्वे यूयमेव प्रथितबुधजने सन्दिहाने समेते,
युष्मभ्यं तिष्ठते कस्त्रिदशगुरुसमानोऽपि युष्मादृगन्यः,
प्रज्ञालून् यज्ञनारायणविबुधमहादीक्षितान् वीक्षते कः ? ॥६॥

अस्वस्थाः केरलस्थाः स्मयमतिमृदवस्तत्र चाहं विशेषात्,
२५ सर्वे दूरप्रचारे खलु शिथिलधियः, किं पुनर्दशभेदे;
एवं भावेऽपि दैवात् कुहचन समये कल्यताऽकल्यते चेत्,
प्रज्ञाब्धीन् यज्ञनारायणविबुधमहादीक्षितानाक्षिताहे ॥७॥

॥ **समाप्तिः—शुभं भूयात्** ॥

---

१. मुद्रित ग्रन्थ एव पठितोऽयमनुबन्धः ।

दूसरा परिशिष्ट

पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिक व्याख्या

का

संक्षिप्त निदर्शन

व्याकरण के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त विद्वानों द्वारा प्रायः स्वीकृत हैं। एक—व्याकरण का प्रयोजन स्वसमय में प्रयुज्यमान लोकभाषा के शिष्ट पुरुषों द्वारा आदृत स्वरूप का ज्ञान कराना और लोक-सुलभ-अपभ्रंश की प्रवृत्ति को रोकना अथवा भाषा को अपभ्रष्ट प्रयोगों के सम्मिश्रण से बचाना। दूसरा—व्याकरण लोकव्यवहृत भाषा का निदर्शक मात्र होता है। चाहे कितना ही सूक्ष्म मेधावी वैयाकरण क्यों न हो और कितना ही विस्तृत व्याकरण क्यों न रचा जाये, व्याकरण शास्त्र भाषा को पूर्णतया कभी भी व्याप्त नहीं कर सकता।

ये सिद्धान्त न्यूनाधिक रूप से सभी भाषा के व्याकरणों पर लागू होते हैं, तथापि अतिप्राचीन काल से चली आई अतिविपुल संस्कृत-भाषा के व्याकरणों के सम्बन्ध में तो यह नितान्त सत्य है। संस्कृत-भाषा के व्याकरणों के सम्बन्ध में उक्त सत्य तब अधिक प्रस्फुटित हो जाता है, जब संस्कृतभाषा के प्रसिद्धतम पाणिनीय व्याकरण के परिप्रेक्ष्य में प्राचीन तथा पाणिनीय काल की समीपवर्ती शिष्ट पुरुषों द्वारा व्यवहृत संस्कृत भाषा को देखते हैं।

इसके साथ ही संस्कृतभाषा के सम्बन्ध में दो ऐतिहासिक तथ्य और ध्यान देने योग्य हैं। उनमें से एक है—उत्तरोत्तर मानव समाज में मतिमान्द्य आदि कारणों से लोक व्यवहृत संस्कृत भाषा में क्रमशः ह्रास होना और दूसरा अन्य समस्त शास्त्रीय वाङ्मय के समान व्याकरण शास्त्र के प्रवचन में भी उत्तरोत्तर संक्षेप होना।[1]

प्रथम कारण अर्थात् संस्कृतभाषा में क्रमिक ह्रास होने से यास्क

---

१. इन दोनों विषयों का उपपादन हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में किया है। पाठक उसे एक बार पुनः पढने का कष्ट करें।

और पाणिनि के समय संस्कृतभाषा अत्यन्त अव्यवस्थित हो चुकी थी। सहस्रों प्राचीन प्रकृतियां (धातु वा प्रातिपादिक) उस समय तक लुप्त हो चुकी थीं, परन्तु उनसे निष्पन्न शब्द (यास्कीय व्यवहारानुसार 'विकार') पाणिनि के काल में लोक-व्यवहार में प्रचलित थे। इसी प्रकार सहस्रों प्रकृतिरूप मूल शब्द पाणिनि के समय में व्यवहृत थे, परन्तु उनसे निष्पन्न शब्दों का लोकभाषा में उच्छेद हो गया था। इसके साथ ही संस्कृतभाषा के सम्बन्ध में यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि यास्कादि के काल में देशभेद से कहीं प्रकृतियों का ही प्रयोग होता था, तो कहीं उनसे निष्पन्न शब्दों का ही।

इस विषय की संक्षिप्त परन्तु विशद मीमांसा हमने इस ग्रन्थ के प्रथमाध्याय में की है। उसका गम्भीरता से अध्ययन करने पर हमारे द्वारा यहां प्रकट किये गये तथ्य भले प्रकार विस्पष्ट हो जायेंगे।

वैयाकरणों की कठिनाई

जब किसी भाषा में से मूल प्रकृतियों का लोप (=व्यवहाराभाव) हो जावे, परन्तु उससे निष्पन्न शब्दों का प्रयोग प्रचलित हो, तब व्याकरण-प्रवक्ता के सन्मुख कितनी कठिनाई उत्पन्न होगी, यह किसी भी मनस्वी द्वारा गम्भीरता से सोचने पर स्वयं व्यक्त हो सकती है। व्याकरणशास्त्र के प्रवचन में अर्थ-सम्बन्ध का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। शब्दार्थ-सम्बन्ध के ज्ञान का मुख्य आधार लोकव्यवहार ही होता है। इस कारण व्याकरण-प्रवक्ता लुप्त प्रकृति से निष्पन्न शब्दों के अन्वाख्यान में लुप्त प्रकृति का निर्देश करे, तो उसे उन लुप्त प्रकृतियों के अर्थ का भी निर्देश करना पड़ेगा। क्योंकि लोक में उनका व्यवहार न रहने से उन शब्दों और उनके अर्थों को लौकिक जन नहीं जानते। यदि व्याकरण-प्रवक्ता लुप्त प्रकृतियों से निष्पन्न शब्दों का अन्वाख्यान करने के लिये लोकप्रचलित किसी शब्द का उपादान करले तो अर्थज्ञान तो हो जायगा, किन्तु प्रकृतिविकारभाव का यथावत् परिज्ञान नहीं होगा। ऐसा असम्बद्ध अन्वाख्यान यास्क के शब्दों में स्वर-संस्कार एवं प्रादेशिक विकार की दृष्टि से अनन्वित होगा।[1] लोप आगम आदेश आदि अप्रादेशिक

---

१. द्र०—अथान्वितेऽर्थे ....। निरुक्त १।१।३; २।१॥

विकारों की कल्पना करनी पड़ेगी, और वह असम्बद्ध होने से अनादरणीय होगी।[1]

जब संस्कृतभाषा के मेधावी साक्षात्कृतधर्मा वैयाकरणों के सन्मुख यह स्थिति उत्पन्न हुई, तो उन्होंने अपनी प्रखर मेधा से इस समस्या का ऐसा समाधान ढूंढ निकाला कि उनके प्रवचन में उक्त समस्त दोष न केवल निराकृत ही हो गये, अपितु उन्होंने अपने नियमों के द्वारा संस्कृतभाषा की विलुप्त सहस्रों प्रकृतियों (धातु वा प्रातिपदिकों) और उनसे निष्पन्न होने वाले लक्षों शब्दों को उस काल तक सुरक्षित कर दिया, जब तक उनके द्वारा प्रोक्त व्याकरण-शास्त्र इस भूमि पर वर्तमान रहेंगे। संस्कृत व्याकरण-शास्त्र की इसी महत्ता को भट्ट कुमारिल ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

'यावांश्च अकृतको विनष्टः शब्दराशिः, तस्य व्याकरणमेवैकम् उपलक्षणम्,[2] तदुपलक्षितरूपाणि च। तन्त्र-वार्तिक १।३।१२। पृष्ठ २६९।

अर्थात्—[संस्कृतभाषा का] जितना स्वाभाविक शब्दसमूह नष्ट हो गया था, उसके उपलक्षक (=ज्ञान करानेवाले) एक मात्र व्याकरणशास्त्र के नियम वा तन्निर्दिष्ट रूप हैं।[3]

व्याकरणशास्त्र के अर्वाचीन व्याख्याता

संस्कृत-व्याकरण के प्रवक्ता मनीषियों ने उक्त दृष्टि से शास्त्र-प्रवचन में जो चमत्कार प्रस्तुत किया था, वह कालक्रम से विलुप्त हो गया। इस कारण पाणिनीय व्याकरण के अर्वाचीन व्याख्याता विद्वानों ने स्वीय व्याख्याओं में उक्त तथ्य को भुलाकर जो व्याख्याएं लिखीं, उनमें उक्त चमत्कार सर्वथा लुप्त हो गया। और व्याकरण का प्रयोजन येन केन प्रकारेण शब्द-व्युत्पत्ति तक सीमित रह गया। इतना ही नहीं, इन व्याख्याकारों ने प्राचीन ऋषि-मुनि-आचार्यों के

---

१. द्र०—अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिक विकारे······तदेतन्नोपपद्यते। निरुक्त १।१३॥ न संस्कारमाद्रियेत विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति। निरुक्त २।१॥

२. द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४५, टिप्पणी १ (च० सं०)।

३. द्र०—सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४५, टिप्पणी २ (च० सं०)। 'सूत्रवार्तिकभाष्येषु दृश्यते चापशब्दनम्।' तन्त्रवार्तिक, शाबर भाष्य, भाग, १, पृष्ठ २६०, पूना सं०।

उन शिष्ट प्रयोगों को, जिनका साधुत्व इन व्याख्याताओं की व्याख्या से उपपन्न नहीं होता था, उन्हें अपशब्द कह दिया।

इसके साथ ही इन वैयाकरणों ने स्वीय शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त के विपरीत एवं ऐतिहासिक तथ्य से विहीन **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** सदृश सिद्धान्तों की कल्पना करली। और पूर्व-पूर्व आचार्य-बोधित शब्दों को अपशब्द मान लिया।

व्याकरणशास्त्र का मुख्य आधार—व्याकरणशास्त्र का विशेष-पाणिनीय व्याकरण का मुख्य आधार है—**शब्दनित्यता**। भगवान् पतञ्जलि ने इस तथ्य को महाभाष्य में स्थान-स्थान पर उजागर किया है।[1] इस तथ्य को स्वीकार करने पर कोई भी शब्द कालभेद से अपशब्द नहीं माना जा सकता। और ना ही उसमें कालभेद से विकार स्वीकार करते हुये यथोत्तर मुनि-प्रामाण्य से साधु शब्द स्वीकार किया जा सकता है।

कुछ व्याख्याताओं ने शब्दनित्यत्वरूप स्वशास्त्र-सिद्धान्त-हानि दोष से बचने के लिये कालभेद से प्रयोग में धर्म अथवा अधर्म की कल्पना की है। इसके लिए उन्होंने **'कृते तु मानवो धर्मः……कलौ पाराशरी स्मृत'** रूप काल्पनिक वचनों का आश्रय लिया है।[2] इस पक्ष में भी विचारणीय यह है कि उक्त वचन किसी भी शिष्ट ऋषि-मुनि-प्रोक्त धर्मशास्त्र का नहीं है। अतः इसे हेतु बनाकर व्याकरण-शास्त्र जैसे शिष्ट-प्रोक्त ग्रन्थ पर घटाना चिन्त्य है। इतना ही नहीं, धर्मशास्त्रों में जिन धर्मों=कर्त्तव्यकर्मों का विवेचन किया गया है, वे दो प्रकार के हैं। इन में कुछ धर्म शाश्वत हैं, जो देश-काल की सीमा से बाहर हैं। ये सदा ही एकरस रहते हैं। जैसे सत्यभाषण, चोरी का परित्याग, दीनों की सहायता करना आदि। ये ही शाश्वत धर्म

---

१. महाभाष्य अ. १, पा. १, आ. १; अ. १, पा १, सूत्र १९ तथा अन्यत्र बहुत्र।

२. यत्तु कश्चिदाह चान्द्रवर्मण व्याकरणे द्वयशब्दस्यापि सर्वनामताभ्युपगमात् तद्रीत्याऽयं प्रयोग इति। तदपि न। मुनित्रयमतेनेदानीं साध्वसाधुविभागस्तस्यैवेदानीन्तनैः शिष्टैर्वेदाङ्गतया परिगृहीतत्वात्। दृश्यते हि नियतकालाः स्मृतयः। यथा—कलौ पाराशरी स्मृतेति। शब्दकौस्तुभ १।१।२७॥ इसका प्रत्याख्यान द्र०—सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ३७, टि० १।

संस्कृति के अङ्ग होते हैं । कुछ धर्म=कर्म सभ्यता के अंशरूप होते हैं। वे देश काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। देश-कालानुसार परिस्थितियां बदलने पर उस-उस समय के आचार्य समाज की सुरक्षा के लिये सामाजिक नियमों में परिवर्तन करते रहते हैं। अतः ये नियम देशकाल परिस्थिति के अनुरूप होने से सापेक्ष होते हैं। ५ इसलिए यह एकान्त सत्य नहीं होते। अन्यथा एक ही समाज में एक ही काल में देश वा परिस्थिति के भेद से परस्पर विरोधी धर्मों का आचरण उपलब्ध नहीं होता। यथा उत्तर भारत में विवाह रात में ही होते हैं, और सुदूर दक्षिण में दिन में प्रायः प्रातःकाल। इतना ही नहीं, पञ्जाबियों में विवाह बारह मास होते रहते हैं, परन्तु अन्य १० लोगों में कुछ नियत मासों में ही विवाह होते हैं।

यतः शब्दकारों ने शब्द को नित्य माना है। अतः इसकी तुलना धर्म शास्त्रीय देश-कालातीत नित्य धर्मों से ही की जा सकती है, न कि देश-काल परिस्थित्यनुसार बदलने वाले धर्मों के साथ।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि जिस **कलौ पाराशरी स्मृता** के १५ दृष्टान्त के बल पर आधुनिक वैयाकरण देश काल के भेद से साधु शब्द के प्रयोग-अप्रयोग की वा धर्म-अधर्म की कल्पना करते हैं, वह वचन धर्मशास्त्र के निबन्धकारों को ही पूर्णतः मान्य नहीं है। अन्यथा निबन्धकारों का पाराशर स्मृति को छोड़कर मन्वादि स्मृतियों को प्रामाणरूप में उपस्थित करना भी असङ्गत हो जाएगा। यही स्थिति २० व्याकरण-शास्त्र के विषय में जाननी चाहिए। अन्यथा स्वयं पाणिनि का अपने से पूर्वभावी आपिशलि आदि आचार्यों के मतों वा उनकी संज्ञाओं का निर्देश कराना व्यर्थ हो जाएगा।

व्याकरण-शास्त्र में **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** सदृश नियमों की कल्पना तो इधर ५-६ शताब्दियों में हुई है। पाणिनीय व्याकरण के २५ प्राचीन व्याख्याता न्यूनातिन्यून इस दोष से प्रायः असम्पृक्त ही रहे हैं। इसीलिये उन्होंने न प्राचीन शिष्ट प्रयोगों को अपशब्द माना, और न ही व्याकरणान्तर बोधित शब्दों के संग्रह में कृपणता ही बरती।

प्राचीन मतों के संग्रह में महाभाष्यकार की सम्मति—महाभाष्य- ३० कार के मतानुसार तो पाणिनीय व्याकरण द्वारा अनुक्त प्राचीन

आचार्यों द्वारा निर्दशित रूपों का संग्रह पाणिनीय तन्त्र में भी अभीष्ट है। महाभाष्यकार लिखते हैं—

'इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमारभन्ते—परिमृजन्ति' परिमार्जन्ति···। तदिहापि साध्यम्।' महा० १।१।३॥

५ अर्थात्—अन्य वैयाकरण अजादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे मृज को विभाषा वृद्धि कहते हैं—परिमृजन्ति, परिमार्जन्ति। यह कार्य यहां (=पाणिनीय तन्त्र) में भी साध्य है।

पाणिनीय शास्त्रानुसार 'परि मृज् अन्ति' में अन्ति के ङित् होने से वृद्धि का नित्य निषेध प्राप्त होता है।

१० इतनी भूमिका के पश्चात् हम पाणिनीय सूत्रों की उस भाषा-विज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप दर्शाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे शास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त की रक्षा हो, शास्त्र-प्रवक्ताओं के कौशल का परिचय प्राप्त हो, और प्राचीन संस्कृतभाषा में विद्यमान, परन्तु उत्तरकाल में विलुप्त, प्रकृतियों (धातु-प्रातिपदिकों) वा उनसे १५ निष्पन्न होने वाले शब्दों का परिज्ञान होवे, और उससे प्राचीन संस्कृतभाषा में विद्यमान विपुल शब्दराशि का बोध अनायास हो सके।

इतना ही नहीं, हमारे द्वारा प्रस्तुत व्याख्या-सरणि का ज्ञान होने पर आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के द्वारा संस्कृतभाषा पर जो २० आक्षेप किये जाते हैं, उनका भी निराकरण करने में सहायता मिलेगी।

पाणिनीय सूत्रों की भाषाविज्ञानिक व्याख्या

वस्तुत व्याख्या-सरणि पर विचार करने से पूर्व व्याकरणशास्त्र में शब्द-साधुत्व के निदर्शन के लिए जो प्रक्रिया अपनाई गई है, उसे २५ जान लेना आवश्यक है।

वैयाकरणों ने शब्द-साधुत्व के निदर्शन के लिए जो प्रक्रिया अपनाई है, उस पर यदि गम्भीरता से विचार किया जाये, तो उसके तीन भेद स्पष्ट उपलब्ध होते हैं। एक प्रक्रिया वह है—जिसमें धातु वा प्रातिपदिक से प्रत्यय होने पर स्वाभाविक विकार होते हैं। यथा ३० इकारान्त उकारान्त ऋकारान्त वा अकारोपध धातु से ञित् णित्

प्रत्यय परे होने पर समानरूप से धातु को वृद्धि होती है। इसी प्रकार तद्धित ञित् णित् कित् प्रत्यय परे आद्यच् को वृद्धि होती है। जो विकार सामान्यरूप से सर्वत्र होते हैं, उन्हें यास्क के शब्दों में प्रादेशिक एवं **अन्वितसंस्कार** कहा जाता है।[1] दूसरी प्रक्रिया वह है—जिस में किसी धातु वा प्रातिपदिकविशेष में लोप आगम वर्णविकार वा आदेशादि करके शब्दस्वरूप का अन्वाख्यान किया जाता है। जैसे— **हतः घ्नन्ति दीयते पिबति आदि**। इसे यास्क के शब्दों में **अनन्वित संस्कार** कहा जाता है। **तीसरी** प्रक्रिया वह है—जिसमें से एक से अधिक असामान्य कार्य होते हैं। इसे **निपातन प्रक्रिया** कहा जाता है। जैसे—**निष्टर्क्यं पाणिन्धमः हैयंगवीनम्**। इसे यास्क के शब्दों में **अनन्वित संस्कार और अप्रादेशिक विकार** माना जाता है।

हमारी प्रस्तुत सूत्र-व्याख्या का सम्बन्ध विशेषरूप से द्वितीय प्रक्रिया के साथ, और कुछ सीमा तक तृतीय प्रक्रिया के साथ है। इस लिए इस विशिष्ट व्याख्या के निदर्शनार्थ इसी प्रकार के सूत्र उपस्थित किये जायेंगे। हमने जहां तक शास्त्रकारों की विविध प्रक्रिया पर विचार किया है, उसके अनुसार हम कह सकते हैं कि शास्त्रकारों ने द्वितीय तृतीय प्रक्रिया का आश्रयण प्रायः वहीं किया है, जहां धातु वा प्रातिपदिक रूप मूल प्रकृति का लोप हो गया था, परन्तु उनसे निष्पन्न शब्द उनके काल में विद्यमान थे।

प्रस्तुत व्याख्या का आधार

पाणिनीय सूत्रों की जिस व्याख्या को हम प्रस्तुत कर रहे हैं, वह हमारी कल्पना नहीं है, अपितु व्याकरणशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य महामुनि पतञ्जलि और उत्तरवर्ती कतिपय प्राचीन व्याख्याकारों के प्रत्यक्ष व्याख्यानों पर आधृत है। प्रस्तुत व्याख्या के व्यापक विषय को हम स्थूल रूप से निम्न विभागों में बांट सकते हैं—

१—प्रकृतिविभाग से संबद्ध लोप आगम आदेश वर्णविकार आदि के निर्देश द्वारा प्रकृत्यन्तर सद्भाव को द्योतित करना।

२—प्रत्ययभाग से संबद्ध लोप आगम आदेश वर्णविकार आदि के द्वारा प्रत्ययान्तर सद्भाव को प्रकट करना।

१, इसी भाग का पृष्ठ १६, टि० १।

३—'गण कार्य का उपलक्षणत्व व्यक्त करना।

४—पाणिनीय नियमों से असिद्ध पाणिनीय प्रयोग द्वारा विविध नियमान्तरों की कल्पना, अथवा उक्त नियमों का प्रायिकत्व द्योतित करना। यथा—

५ (क) सन्धि-नियम (ग) लिङ्ग-नियम
(ख) विभक्ति-नियम (घ) समास-नियम

५—प्रयोक्ता के अभिप्राय का अन्य प्रकार से ज्ञापन होने पर तद् विशेष वाचक अंश के प्रयोग की अविवक्षा—**उक्तार्थानामप्रयोगः**।[२]

प्रकृत्यन्तर कल्पना का नियम

१० महाभाष्यकार ने प्रकृत्यन्तर कल्पना का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम भी लिखा है। वे लिखते हैं—

'कथमुपबर्हणम्? बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते-बृहिः प्रकृत्यन्तरमिति? अचीति हि लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निबृह्यते। अनिटीति चोच्यते, इडादावपि दृश्यते—निर्बर्हिता,
१५ **निर्बर्हितुम् इति। अजादावपि न दृश्यते—बृंहयति, बृंहकः इति।**
महा० १।१।४॥

अर्थात्—[यदि सूत्र के विषय का परिगणन नहीं करते, तो] 'उपबर्हण' [में नुम् का लोप होने पर गुण का अभाव] कैसे उपपन्न होगा? 'बृह' (=नुम्‌रहित) प्रकृत्यन्तर है। कैसे जाना जाता है
२० [कि बृह प्रकृत्यन्तर है]? अजादि प्रत्यय परे रहने पर [**बृंहेरच्यनिटि** (अ० ६।४।२४) वार्तिक से नुम् का] लोप कहा है, वह हलादि प्रत्यय परे भी देखा जाता है—**निबृह्यते**। इडादि प्रत्यय परे [नुम्-लोप का] निषेध कहा है, पर इडादि प्रत्यय परे [नुम् का लोप] देखा जाता है—**निर्बर्हिता, निर्बर्हितुम्**। अजादि प्रत्यय परे [नुम् लोप
२५ का विधान होने पर भी लोप] नहीं देखा जाता है—**बृंहयति, बृंहकः**।

---

१. इसके अन्तर्गत विकरण-इट्-अनिट्-आत्मनेपद-परस्मैपद आदि विधियों और प्रातिपदिक गण संबन्धी समस्त कार्यों का संग्रह समझना चाहिए।

२. महाभाष्य १।१।४४॥ १।२।५१॥ २।१।१॥ ३।१।७॥ ४।१।३॥
३० ५।२।६४॥ ८।२।८३॥

यही बात भर्तृहरि ने इस प्रकार कही है—

अर्थान्तरे च यद्वृत्तं तत्प्रकृत्यन्तरं विदुः ।

अर्थात्—जो शब्द (=धातु वा प्रातिपदिक] अर्थान्तर (=विषयान्तर) में नियत हैं। उन्हें प्रकृत्यन्तर जानना चाहिये ।

अब हम क्रमशः एक-एक विषय को प्रकट करने के लिये एक-एक दो-दो सूत्रों वा वचनों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं— ५

प्रकृत्यन्तर-सद्भाव का निरूपण

१—सूत्र वार्तिक आदि के द्वारा जहां-जहां धातु वा प्रातिपदिकरूप प्रकृति को आगम आदेश लोप वर्णविकार आदि का विधान किया है, वहां-वहां प्रकृति में उस-उस कार्य को सम्पन्न कर लेने पर प्रकृति का १० जो रूप निष्पन्न होता है, उसे महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा अन्य व्याख्याताओं ने स्वतन्त्र प्रकृति मानकर आगम आदि विधान को अवक्तव्य माना है ।

क—आगमसंयुक्त धात्वन्तर—वार्तिककार कात्यायन ने **नयते षुक् च** (अ० ३।२।१३५) वार्तिक द्वारा तृन् प्रत्यय परे 'नी' को 'षुक्' १५ (ष्) का आगम करके **नेष्टा** रूप बनाया है। इस पर भाष्यकार कहते हैं—

'न वा वक्तव्यम् । किं कारणम् ? धात्वन्तरं नेषतिः । कथं ज्ञायते ? नेषतु नेष्टात् इति हि प्रयोगो दृश्यते । इन्द्रो वस्तेन नेषतु, गावो नेष्टात् ।' २०

अर्थात्—'नी' से षुक् आगम का विधान नहीं करना चाहिये । क्या कारण है ? 'निष' धात्वन्तर है। कैसे जाना जाता है कि 'निष' धात्वन्तर है ? **नेषतु नेष्टात्** प्रयोग देखे जाते हैं, अर्थात् जहां षुक् के आगम का विधान नहीं किया, वहां भी षुक्विशिष्ट का प्रयोग देखा जाता है। अतः निष् स्वतन्त्र धात्वन्तर हैं। उसी से विना षुक् आगम २५ के भी **नेष्टा** रूप उपपन्न हो जायेगा ।

काशिकाकार ने (३।१।८५)' **इन्द्रो वस्तेन नेषतु**' सिप्' और 'शप्' दो विकरणों की कल्पना की है। निष धात्वन्तर स्वीकार करने पर दो विकरणों की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

ख—आदेशरूप धात्वन्तर—वैयाकरणों ने अनेक स्थानों पर धातुओं के स्थान में आदेशों का विधान किया है। यथा—**पाघ्राध्मास्था** आदि के स्थान में शित् प्रत्यय परे **पिब जिघ्र धम तिष्ठ** आदि आदेश (द्र०—अ० ७।३।७८)। इनमें आदेशरूप से पठित शब्द स्वतन्त्र धात्वन्तर हैं। उदाहरणार्थ-ध्मा को धम आदेश। निरुक्त १०।३१ में **मधुर्धमतेर्विपरीतस्य** तथा उणादिसूत्र **अर्तिसृधृधम्यम्यश्यवितृभ्योऽनिः** (उ० २।७५) में 'धम' का स्वतन्त्र धातुरूप में प्रयोग किया है। क्षीरस्वामी ने 'ध्मा' धातु (क्षीरत० १।६५९) के व्याख्यान में लिखा है—**धमिः प्रकृत्यन्तरमित्येके**। **यथा—धान्तो धातुः पावकस्यैव राशिः**। रामायण किष्किन्धाकाण्ड (६७।१२) में स्वतन्त्र धातु के रूप में लृट् लकार में प्रयोग मिलता है—**विधमिष्यामि जीमूतान्**।

इसी प्रकार **अश्नोते रश च** (उ० २।७५) में आदेशरूप से निर्दिष्ट रश भी स्वतन्त्र धातु है। महाभाष्यकार कहते हैं—**रशिरस्मायाविशेषेणोपदिष्टः। स राशिः रशना इत्येवं विषयः** (महा० ७।१।९६)।

ग—वर्णविकार से निष्पन्न धात्वन्तर—वैयाकरण जिन धातुओं में वर्णविकार करके शब्द की सिद्धि करते हैं, वहां उपादीयमान धातु में वर्णविकार कर लेने पर जो रूप निष्पन्न होता है, वह धात्वन्तर माना जाता है। यथा—

१—वैदिक 'गृभ्णाति' प्रयोग के लिये वैयाकरण **हृग्रहो भश्छन्दसि हस्य** (अ० ८।२।३२) वार्तिक द्वारा 'ग्रह' धातु के हकार को भकार और सम्प्रसारण करके 'गृभ' रूप बनाते हैं। निरुक्तकार यास्क ने **गर्भो गृभेः** (नि० १०।२३) निर्वचन में 'गृभ' धातु को स्वतन्त्र धातु मानकर गृभ से गर्भ का निर्वचन दर्शाया है। इसी प्रकार ग्रह धातु को सम्प्रसारण करने पर जो '**गृह**' रूप बनता है, उसे न्यायसंग्रह[1] पृष्ठ १४९ में स्वतन्त्र धातु माना है।

२. जिन धातुओं को कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर धातुगत यकार वकार और रेफ के स्थान में क्रमशः इकार उकार ऋकार रूप सम्प्रसारण होता है, वे कृत-संप्रसारणरूप धातुएं स्वतन्त्र प्रकृतियां

१. यह हैम व्याकरण से सम्बद्ध परिभाषाओं का हेमहंसगणिविरचित व्याख्या ग्रन्थ है।

मानी जाती हैं। यथा—यज के इष्टि इज्यते आदि में **'इज'** रूप, वच के उक्ति उच्यते आदि में **'उच'** रूप और प्रथ के पृथु पृथिवी आदि में **'पृथ'** रूप। इस विषय में निरुक्तकार यास्क लिखते हैं—

तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतियां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितिरयोपपिपादयिषेत्। निरुक्त २।२॥ ५

अर्थात्—स्वर से [पूर्व वा पर] अव्यवहित अन्तस्थ वर्णवाली धातु होती है उसे **दो प्रकृतियों** से निष्पन्न होने वाले शब्दों का स्थान माना जाता है। अतः यदि **सिद्ध**=लोक प्रसिद्ध रूप प्रकृति से शब्द की उपपत्ति न होवे तो इतर=कृतसंप्रसारणरूप प्रकृति से निष्पन्न १० करने की इच्छा करे।

इसके उदाहरण वहीं निरुक्त में दिये—अव=ऊ से ऊति, म्रद=मृद से मृदु, प्रथ=पृथ से पृथु आदि।

इस विषय में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय २।१७६ में कहा है—

भिन्नाविजियजी धातू नियतौ विषयान्तरे। १५
कैश्चित् कथंचिदुपदिष्टौ चित्रं हि प्रतिपादनम्।

अर्थात्—इज और यज दो धातु हैं, ये विषयान्तरे में नियत है [यथा कित् प्रत्ययों में कृतसंप्रसारणरूप इज और अन्यत्र यज]। किन्हीं आचार्यों के किसी प्रकार से उपदेश किया है। आचार्यों का प्रतिपादन विचित्र है [यथा **स भुवि** आपिशलि ने धातु पढ़ी है और २० **अस् भुवि** पाणिनि ने]।

इस कारिका की भर्तृहरि की स्वोपज्ञ व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

घ—वर्णविपर्ययरूप धात्वन्तर-वैयाकरण तथा नैरुक्त सिंह आदि शब्दों का निर्वचन हिंस (हिसि हिंसायाम्) धातु में आद्यन्त-विपर्यय करके दर्शाते हैं। यथा—**कृतेस्तर्कुः, कसेः, सिकताः, हिंसेः सिंहः** २५ (महा० ३।१।१२३); **सिंहः सहनात्, हिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य** (निरु० ३।१८)। इस प्रकार वर्णविपर्यय करने पर धातु का जो रूप निष्पन्न होता है, वह स्वतन्त्र माना जाता है। अतएव काशकृत्स्न धातुपाठ में 'हिंस' से 'सिंह' का अन्वाख्यान न करके **षिंह** (=सिंह) **हिंसागत्योः** (धातुसूत्र १।३१६) रूप स्वतन्त्र सिंह धातु से सिंह पद ३० का अन्वाख्यान किया है।

ङ—'पृणति' 'मृणति' ये रूप **पृण मृण** धात्वन्तर के हैं-**धात्वन्तरं पृणिमृणी** । महा० ३।१।७८॥

धातुगत आगम आदेश वर्णविकार के करने पर जो रूप निष्पन्न होता है, वह स्वतन्त्र धात्वन्तर है। इस विषय में हमने कतिपय ५ प्रमाण दर्शाये हैं।

अब हम कतिपय उन प्रातिपदिकरूप प्रकृत्यन्तरों का निर्देश करते हैं, जहां शास्त्रकारों ने लोपागम वर्णविकार आदेश आदि कहा है, पर उनसे निष्पन्न रूप प्रकृत्यन्तर माने जाते हैं।

च—**हेमन्**-हेमन्त के तकार का लोपरूप । द्र०-महा० ४।३।२२॥

१० छ—**त्मन्**-आत्मन् के आकार का लोप 'टा' तृतीयैकवचन में कहा है—**मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः** (अ० ६।४।१४१) । वेद में तृतीयैकवचन से अन्यत्र भी 'त्मन्' स्वतन्त्र प्रकृति के रूप देखे जाते हैं। यथा—**त्मन्** (ऋ० ४।४।९ इत्यादि), **त्मनम्** (ऋ० १।६३।८), **त्मनि** (ऋ० १। १५८।४ इत्यादि), **त्मने** (ऋ० १।११४।६ इत्यादि), **त्मन्या**(ऋ० १। १५ १८८।१० इत्यादि) ।

ज—**सुधातक, व्यासक, वरुडक, निषादक, चण्डालक, बिम्बक**—सुधातृ आदि में अकङ् आदेश से निष्पन्न ये रूप प्रकृत्यन्तर हैं। द्र०—महा० ४।१।९७॥

झ—**पीतक**—कन् प्रत्यय सहित के रूप में, बिना कन् प्रत्यय के। २० महा० ४।२।२॥

ञ—**तैल**—विकारार्थ प्रत्ययान्त के रूप में, विना विकारार्थ प्रत्यय के। महा० ५।२।२९॥

ट—**शीर्षन्**—आदेश रूप में निर्दिष्ट विना आदेश के। महा० ६। १।१०॥

२५ ठ—**सपत्न**—स्त्रीलिङ्ग में विहित नकारादेश के विना। महा० ६।३।३५॥

धातु और प्रातिपदिक विषयक प्रकृत्यन्तर-कल्पना के कुछ निदर्शन उपस्थित करके अब हम अष्टाध्यायी के कतिपय सूत्रों की इसी भाषा-विज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या उपस्थित करते हैं। जिससे पाणिनीय ३० व्याकरण की **भाषाविज्ञानिक व्याख्या का स्वरूप** समझने में सुकरता होगी।

क–पाणिनि का सूत्र है–**मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च** । ४।१।१६१ ॥

वैयाकरण इसका अर्थ करते हैं–षष्ठी समर्थ (=षष्ठ्यन्त) 'मनु' प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में 'अञ्' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं, यदि जाति अर्थ जाना जाये, तथा प्रत्यय के साथ मनु प्रातिपदिक को 'षुक्' (अन्त में षकार) का आगम होता है। यथा–मनु की अपत्य रूप ५
जाति–मानुष और मनुष्य।

प्रश्न होता है कि मनु शब्द में षकार नहीं हैं, तब उससे निष्पन्न मानुष और मनुष्य में कहां से और किस प्रकार षकार आया? साम्प्रतिक वैयाकरणों के पास इसका कोई उत्तर नहीं। इसका यथार्थ उत्तर हमारी वैज्ञानिक व्याख्या ही दे सकती है। १०

वैज्ञानिक व्याख्या–संस्कृतभाषा में **मानव मानुष** और **मनुष्य** तीन शब्द प्रायः सदृश एकार्थक प्रयुक्त होते हैं। इनकी परस्पर में तुलना करने से विदित होता है कि **मानव** और **मानुष** के आदि (प्रकृति) भाग में कुछ भिन्नता है, और अन्त्य (प्रत्यय) भाग 'अ' समान है (स्वर की दृष्टि से अण् और अञ् दो प्रत्यय होते हैं, परन्तु १५
'अ' अंश दोनों में समान है)। मानुष और मनुष्य के आदि (प्रकृति) भाग में समानता (प्रत्यय-निमित्तक वृद्धि कार्य की उपेक्षा करके) है, और अन्त्य (प्रत्यय) भाग में विषमता है। इस **अन्वयव्यतिरेकरूपी** तुलना से स्पष्ट होता है कि इन तीनों शब्दों की एक **मनु** प्रकृति नहीं हैं। मानव की प्रकृति **मनु है** और मानुष तथा मनुष्य की प्रकृति है २०
षकारान्त **मनुष्**। इस **अन्वयव्यतिरेक** से सिद्ध तत्त्व के प्रकाश में इस सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी–

षष्ठ्यन्त मनु प्रातिपदिक से जाति-विशिष्ट अपत्य अर्थ में अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं, तथा मनु को षुक् (अन्त में षकार) का आगम होता है। अर्थात्–मनु के अन्त में षकार का योग करके मूल २५
प्रकृतिभूत **मनुष्** रूप प्रातिपदिक बनाकर (=प्रकृत्यन्तर की कल्पना करके) उससे अञ् और यत् प्रत्यय करो।

इस व्याख्या के अनुसार प्रत्यय-विधान साक्षात् मनु से न होकर मनुष् से होगा। सूत्रकार ने लोकविज्ञात 'मनु' का निर्देश लुप्त 'मनुष्' शब्द का अर्थज्ञान कराने के लिये किया है। ३०

प्रकृत्यन्तर कल्पना का लाभ–हमारी व्याख्या के अनुसार जो

'मनुष्' प्रकृत्यन्तर की कल्पना की गई है, उसका एक लाभ यह भी है कि उससे निष्पन्न तथा पाणिनि से अविहित अनेक शब्दों का साधुत्व उपपन्न हो जाता है। पाणिनि की वर्तमान व्याख्या के अनुसार 'मानुष' शब्द का प्रयोग **मानव जाति** रूप अर्थ से अन्यत्र नहीं हो ५ सकता। परन्तु हमारी व्याख्यानुसार जब पाणिनि स्वतन्त्र **'मनुष्'** प्रकृति के अस्तित्व का ज्ञापन कर देते हैं, तब उस स्वतन्त्र 'मनुष्' प्रकृति से अन्य अर्थों में भी यथाविहित प्रत्यय होकर **तस्य इदम्** आदि अर्थों में भी मानुष का साधुत्व उत्पन्न हो जाता है। जातिरूप अपत्य अर्थ से अन्यार्थ में भी मानुष शब्द का प्रयोग प्रायः उपलब्ध १० होता है। यथा—

मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। शत० १।४।४।१॥

भोगांश्चातीव मानुषान्। महा० उद्योग ६०।६६॥

यहां मनुष्य सम्बधी **तस्येदम्** (४।३।१२०) अर्थ में मानुष पद प्रयुक्त है।

१५ **मनुष् प्रकृति का सद्भाव**—हमने अष्टाध्यायी की वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा जिस 'मनुष्' प्रकृति की कल्पना की हैं, वह शशशृङ्गाय-माण नहीं है। मनुष् षकारान्त प्रकृति वेद में बहुधा व्यवहृत हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य की प्रकृति **'मनुष्'** है, ऐसा यास्क ने भी माना है। यास्क का लेख है—

२० **'मनुष्यः कस्मात्......मनोरपत्यं मनुषो वा**।' निरुक्त ३।७॥

मनुष अकारान्त—षकारान्त मनुष् प्रकृति का सद्भाव ऊपर दर्शा चुके। वेद में **मनुष** अकारान्त शब्द भी बहुत्र उपलब्ध होता है। अकारान्त मनुष भी आद्युदात्त है।

सुगागम द्वारा सान्त प्रकृति का निर्देश—संस्कृत भाषा में अनेक २५ ऐसे शब्द हैं, जो सम्प्रति अकारान्त इकारान्त उकारान्त ही माने जाते हैं, परन्तु वे प्राचीन भाषा में सकारान्त (षकारान्त) भी प्रयुक्त होते थे (मनु और मनुष् का उदाहरण पूर्व व्याख्यात हो चुका है)। इस तथ्य का व्यापक ज्ञापन क्यच् प्रत्यय परे **'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः सुग्वक्तव्यः'** (अ० ७।१।५१) वार्तिक से होता है। इसके सर्वसम्मत ३० उदाहरण हैं—**दधिस्यति, मधुस्यति** आदि।

हमारे विचार में **दधिस्यति मधुस्यति** अपपाठ हैं। सुक् के पूर्वान्त

होने से षत्व होकर **दधिष्यति मधुष्यति** शुद्ध रूप होना चाहिए। तुलना करो—**मधुषा संयौति** (तै० सं० २।४।९)।

सुगागम के द्वारा सान्त (षान्त) प्रकृत्यन्तर के सद्भाव के सामान्य ज्ञापक से अनायास ही शतशः शब्दों के दो-दो स्वतन्त्ररूप ज्ञात हो जाते हैं।[1] इसी तत्त्व का विपरीत प्रक्रिया से ज्ञापन पाणिनि के **कर्तुः क्यङ् सलोपश्च** (अ० ३।१।११) सूत्रस्थ **सलोपो** वा वार्तिक से भी होता है। तदनुसार **पयस्यते पयायते; यशस्यते, यशायते** द्वारा पयस् यशस् सान्तों का सकार रहित **पय यश** प्रकृत्यन्तर का भी सद्भाव ज्ञात हो जाता है। अतएव चरक (सूत्रस्थान ११।१९) का **नीरजस्तमाः** (तम अकारान्त का) प्रयोग भी उपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार का कात्यायन का वार्तिक है—**नयतेः षुक् च** (अ० ३।२। १३५)। इस वार्तिक के द्वारा नेष्टा शब्द में 'नी' को (गुण करके) षुक् आगम का विधान किया है। यह षुगागम का विधान निष् प्रकृत्यन्तर का ज्ञापक है। यह हम पूर्व (भाग ३, पृष्ठ २३ विस्तार से दर्शा चुके हैं।

ख—पाणिनि का सूत्र है—**कन्यायाः कनीन च**। अ० ४।१।११६॥

इसका अर्थ किया जाता है—षष्ठी समर्थ (षष्ठयन्त) 'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है, और कन्या को कनीन आदेश हो जाता है। कन्या (कुंवारी) का पुत्र=कानीन।

यहां पर यह विचारणीय है कि 'कन्या' का 'कानीन' से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। कन्या से अण् होकर **कान्य** प्रयोग होना चाहिये अथवा ढक् होकर कान्येय। कानीन की प्रकृति तो 'कनीना' ही हो सकती है।

वैज्ञानिक व्याख्या—पाणिनि के उक्त सूत्र सूत्र की वैज्ञानिक व्याख्या होगी—'कन्या' शब्द से अपत्य अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है, और कन्या के स्थान पर 'कनीन' (प्रातिपदिकमात्र, स्त्रीत्व-विवक्षा में

---

१. इस नियम के अनुसार 'अग्निस्' भी स्वतन्त्र शब्द है। इसी सान्त शब्द के अपभ्रंश इण्डोयोरोपियन भाषाओं में 'इग्निस्' 'उङ्निस्' आदि विविध रूप मिलते हैं। इन्हें संस्कृत के सुप्रत्ययान्त 'अग्निस्' का अपभ्रंश मानना चिन्त्य है। क्योंकि इण्डोयोरोपियन भाषाओं के सान्त शब्द प्रातिपदिक के रूप में माना जाता है।

'कनीना') आदेश होता है। अर्थात्—कन्या अर्थवाले **कनीना** (स्त्रीत्व विशिष्ट) प्रकृति से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, ऐसा जानना चाहिये। कन्यावाचक **कनीना** पद वैदिक साहित्य में बहुत्र उपलब्ध होता है।

५ तै० ब्रा० १।२७।६ में कनीना का दूसरा रूप **कनीनी** भी प्रयुक्त है।[1] दोनों मध्योदात्त कनीन प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में टाप् और ङीप् होकर निष्पन्न होते हैं। 'कानीन' शब्द की निष्पत्ति 'कनीनी' शब्द से भी अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय होकर हा सकती है।

कनीना प्रकृति-कल्पना का लाभ—पाणिनि के उक्त सूत्र की १० वैज्ञानिक व्याख्या करने से कन्या अर्थ में जो 'कनीना' प्रकृति का सद्भाव ज्ञापित होता है, उसके प्रकाश में अवेस्ता के 'हओमयश्त' ९।२३ का पाठ पढ़िए—**ह ओमा तास् चित् या कइनीना** (संस्कृत —सोमः ताश्चित् याः कनीना...) इसमें पठित 'कइनीना' 'कनीना' का ही अपभ्रंश है, यह स्पष्ट है। कनीना के अज्ञान में इसका सम्बन्ध १५ 'कन्या' से समझा जायेगा, जो कि सर्वथा अयुक्त है। इससे स्पष्ट है कि वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा लुप्त प्रकृतियों का उद्धार करने से भाषा-विज्ञानिकों को भाषाओं की पारस्परिक तुलना के लिये एक नई दृष्टि और विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो जाता है।

ग—इसी प्रकार का पाणिनि का अन्य सूत्र है—**तवकममकावेक-** २० **वचने (अ० ४।३।३)**। इससे एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् के स्थान में खञ् प्रत्यय के परे तवक-ममक आदेश होते हैं। **तव इदं तावकीनम्, मम इदं मामकीनम्**। वस्तुतः ये आदेशरूप से उपदिष्ट तवक ममक प्रकृत्यन्तर हैं। ऋग्वेद १।३१।११ में **ममकस्य**, तथा ऋ० १।३४।६ में **ममकाय** प्रयोग उपलब्ध होते हैं।

२५ घ—वार्तिककार का एक वार्तिक है—**हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य**। ८। ३।३५॥

अर्थात्—'हृ' और 'ग्रह' (=गृह) के हकार को भकार होता है। भरति, गृभ्णाति। यहां प्रथम विचारणीय है—'हृ' के 'ह्' को 'भ' करने की आवश्यकता ही क्या है? जब कि स्वतन्त्र 'भृ' धातु का ३० धातुपाठ में सर्वसम्मत पाठ उपलब्ध है। यदि कहा जाए कि धातुपाठ

---

१. इस विषय में प्रथम भाग के १२ वें पृष्ठ पर टि० १ भी देखें।

पठित 'भृ' का हरण अर्थ नहीं है, यह भी कहना तुच्छ है। वैयाकरणों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि धातुपाठ में लिखित अर्थ उपलक्षणमात्र हैं, धातु बह्वर्थक होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भृ का हरण अर्थ स्वीकार किया जा सकता।

वैज्ञानिक व्याख्या—'हृ' के हकार को भकार होकर जो 'भृ' रूप होता है, उसका अर्थ वह भी है, जो 'हरति' का है। इसी प्रकार ग्रह (गृह) के हकार को भकार रूप होकर जो रूप निष्पन्न होता है, वह गृह्णात्यर्थक स्वतन्त्र धातु है।[1] ५

इस प्रकार की व्याख्या करने से 'भृ' के हरणरूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है और ग्रह (गृह) के वर्ण-परिवर्तन से स्वतन्त्र गृभ धातु का परिज्ञान होता है। इस गृभ धातु के प्रयोग वेद में तो उपलब्ध होते ही हैं, यास्क भी गर्भ शब्द का निर्वचन इसी धातु से दर्शाता है— १०

'गर्भो गृभेः गृणात्यर्थे'।[2] निरुक्त १०।२३॥

अर्थात्—गर्भ 'गृणाति'[2] (शब्द) अर्थ में वर्तमान 'गृभ' धातु से निष्पन्न होता है। १५

ङ—पाणिनि का समासान्त विधायक एक सूत्र है—**राजाहसखिभ्यष्टच्**। अ० ५।४।६१॥

इसका अर्थ है—राजन् अहन् और सखि शब्द जिसके अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है। टच् प्रत्यय होने पर पाणिनीय नियम के अनुसार 'अन्' भाग का लोप होता है, और रूप बनता है—**मद्रराजः, काशीराजः; द्व्यहः, त्र्यहः**। २०

इस व्याख्या के अनुसार **नागराज्ञा** (महा० आदि० १६।१३); **सर्वराज्ञाम्** (आदि० २।१०२); **काशीराज्ञे** (भासनाटकचक्र पृष्ठ १८७); **महाराजानम्** (भास, यज्ञफल, पृष्ठ २८) आदि शतशः २५

---

१. इसी प्रकार **ग्राहक** आदि में ग्रह की उपधा को दीर्घत्व द्वारा निर्दशित **'ग्राह'** भी स्वतन्त्र धातु है। देखिए महाभारत वन० **१३२।४** का 'निजग्राहतुः' प्रयोग।

२. यहां पाठभ्रंश हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। 'गृह्णात्यर्थे' पाठ होना चाहिए। क्योंकि वेद में 'गृभ' धातु का प्रयोग 'ग्रह' धातु के अर्थ में ही मिलता है। स्वयं यास्क ने भी आगे 'यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति......' वाक्य में गृह्णाति का ही प्रयोग किया है। ३०

प्रयुक्त शब्दों का साधुत्व उपपन्न नहीं होता। पाणिनि ने भी **षपूर्व-हन्धृतराज्ञामणि** (अ० ६।४।१३५) सूत्र में नकारान्त '**धृतराजन्**' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

वैज्ञानिक व्याख्या—इस व्याख्या के अनुसार उक्त सूत्र का अर्थ होगा—राजन् अहन् और सखि शब्द जिसके अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुष समास से 'टच्' प्रत्यय होता है। अर्थात् टच् प्रत्यय करने पर अन् और इ भाग का लोप, और प्रत्यय के अ के मेल से जो अकारान्त **राज अह सख** शब्द निष्पन्न होते हैं, उनसे निष्पन्न **मद्रराज काशीराज महाराज द्व्यह त्र्यह आदि** समस्त शब्द हैं। दूसरे शब्दों में नकारान्त सदृश **अकारान्त** जो **राज** और **अह** स्वतन्त्र प्रकृतियां हैं, उन्हीं से निष्पन्न मद्रराज और द्व्यह आदि शब्द हैं।

वैज्ञानिक व्याख्या का लाभ—इस व्याख्या का भारी लाभ यह है कि अकारान्त और नकारान्त भेद से दो स्वतन्त्र शब्दों की सत्ता ज्ञात होने पर प्राचीन वाङ्मय में बहुधा प्रयुक्त नकारान्त समस्त (काशीराज्ञे आदि) शब्दों का साधुत्व तो अनायास प्रकट हो ही जाता है, साथ में विना समास के अकारान्त राज अह शब्दों का प्रयोग भी हो सकता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे कतिपय विरल प्रयोग सुरक्षित भी हैं। यथा—

अकारान्त राज शब्द – **राजाय प्रयतेमहि** (महा० आदि पर्व ६४। ४४।।

अकारान्त अह शब्द—तन्त्राख्यायिका २।१३६ में उद्धृत प्राचीन वचन है—

'यस्मिन् वयसि यत्काले यदहे चाथवा निशि।'

पाणिनि के नियमानुसार द्व्यह **त्र्यह** प्रयोग तत्पुरुष समास में ही होता है, परन्तु रामायण १।१४।४० के **त्र्यहोऽश्वमेधः** वचन में बहु-

---

१. संवत् १९३९ श्रावण वदी ४ को शाहपुराधीश को लिखे गये पत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—'**श्रीयुत महाराजाधिराजभ्यो धीर-वीर** ·····'। ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन, भाग २, पृष्ठ **५८०** (तृ० सं०)। यहां समास होने पर भी नकारान्त राजन् शब्द का प्रयोग किया है। समासान्त का प्रयोग नहीं किया।

व्रीहि में भी अकारान्त अह शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। पाली व्याकरण के अनुसार 'राजन्' शब्द की कतिपय विभक्तियों में नकारान्त और अकारान्त दोनों के रूप प्रयुक्त होते हैं। यथा—द्वि० ए०—**राजानम्, राजम्**। तृ० ए०—**राज्ञा, राजेन**। स० ब०—**राजसु, राजेसु**। ५

प्राचीन आचार्यों का एक वचन है—**विभाषा समासान्तो भवति** (समासान्तविधिरनित्यः—पाठा०)। इस वचन का वास्तविक भाव यही है कि समासान्त प्रत्यय करने पर लोकप्रसिद्ध उत्तर पद का जो स्वरूप निष्पन्न होता है, उस अप्रसिद्ध शब्द और लोकप्रसिद्ध दोनों प्रकार के शब्दों से निष्पन्न समस्त प्रयोगों का साधुत्व जानना चाहिये। यथा— १०

सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोप० में अकारान्त धर्मशब्द।

सत्यधर्माणमध्वरे। ऋ० १।१२।४ में नकारान्त धर्मन् शब्द।

इसी नियम के अनुसार नकारान्तरूप से प्रसिद्ध **कर्मन्** शब्द अकारान्त (**कर्म**) भी देखा जाता है। ऋ० १०।१३०।१ में **देव-कर्मभिः** प्रयोग अकारान्त कर्म शब्द का ही है। १५

इसी प्रकरण का दूसरा सूत्र है—**ऊधसोऽनङ्** (अ० ५।४।१३१)। इस से ऊधस्' को समासान्त 'अनङ्' आदेश करके जो '**ऊधन्**' शब्द-रूप बनाया जाता है, उसके (=ऊधन् के) **विना समास के अनेक विभक्तियों के रूप वेद में उपलब्ध होते हैं**। २०

इस व्याख्या के अनुसार सारा समासान्त-प्रकरण **द्विविध प्रकृतियों** (विना समासान्त के जो शुद्ध रूप हैं, और समासान्त करने पर शास्त्रीय कार्य होकर जो रूप निष्पन्न होता है) का बोधक है। इस प्रकार केवल एक समासान्त-प्रकरण से ही शतशः शब्दों के मूल-भूत दो-दो रूपों का परिज्ञान हो जाता है। २५

नञ् समास में अब्राह्मणः अनश्वः नपात् आदि तीन प्रकार के प्रयोगों के साधुत्व के लिए **नलोपो नञः, तस्मान्नुडचि, नभ्राण्नपान्न-वेद०** (अ० ६।३।७२, ७३, ७४) तीन नियम पाणिनि ने लिखे हैं—प्रथम नियम के अनुसार नञ् के नकार का लोप होता है। द्वितीय से अजादि उत्तरपद को नलोपीभूत अकार से परे नुट् का आगम कहा है, और तृतीय नियम से कुछ शब्दों में न लोप का अभाव दर्शाया ३०

है। वस्तुतः ये नियम निषेधार्थक **अ अन् न इन** तीन अव्ययों की सत्ता का बखान करते हैं। निषेधार्थक **अ** निपात का प्रयोग चादिगण में, और अव्यय का निरूपण कोशों में उपलब्ध होता है। स्वामी दयानन्द ने अव्ययार्थ में लिखा है—**अ अभावे। अराजके तु लोके-
५ ऽस्मिन् सर्वतो विद्रते भयात्** (मनु ७।३)। सामपदकार गार्ग्य ने भी **अ** को स्वतन्त्र निषेधार्थक अव्यय मानकर अवग्रह द्वारा **अ** की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। यथा—**अ रातेः—अरातेः** (१।१।१।६), **अमित्रम्—अ मित्रम्** (१।१।२।१), अमृतम्—अ मृतम् (१।१।४।१)।

इसी प्रकार पदकार गार्ग्य ने अजादि उत्तरपद को नुट् का जहां
१० आगम होता है, वहां **न्** को पूर्वान्वयी मानकर **अन्** के साथ अवग्रह दर्शाया है।

२—**प्रत्ययान्तर सद्भाव की कल्पना**—जैसे प्रकृति में लोप आगम वर्णविकार आदि के निर्देश से प्रकृत्यन्तर का सद्भाव ज्ञापित होता है, उसी प्रकार प्रत्ययों में भी लोप आगम आदेश द्वारा प्रत्ययान्तर का
१५ सद्भाव द्योतित होता है।

पाणिनि ने **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (अ० ७।१।३७) सूत्र द्वारा समास में 'क्त्वा' के स्थान में 'ल्यप्' का विधान किया है। यह 'ल्यप्' स्वतन्त्र प्रत्ययरूप में भी प्रयुक्त देखा जाता है। यथा—

संध्यावधूं गृह्य करेण भानुः। पाणिनीय जाम्बवती विषय।
२० **आज्येनाक्षिणी अज्य**। आश्वलायन श्रौत ५।१९।६॥
शुचौ देशे स्थाप्य। पारस्कर परिशिष्ट स्नानसूत्र।
अर्च्य तान् देवान् गतः। काशिका ७।३।३८ में उद्धृत।
उष्य। रामायण १।२७।१॥
दृश्य। रामायण १।४८।११।

२५ पाणिनि ने ङित् लकारों में तस् थस् थ मिप् के स्थान में **ताम् तम त अम्** (अ० ३।४।१०१) आदेश कहे हैं। महाभाष्यकार इस के विषय में कहते हैं—

'एकार्थस्यैकार्थः, द्व्यर्थस्य द्व्यर्थः, बह्वर्थस्य बह्वर्थो यथा स्यात्।'
अ० १।१।४९॥

३० अर्थात्—एक अर्थवाले 'मिप्' के स्थान में एक अर्थवाला 'अम्'

दो अर्थवाले 'तस् थस्' के स्थान में दो अर्थवाले 'ताम् तम्', और बहुत अर्थवाले 'थ' के स्थान में बहुत अर्थवाला 'त' हो जायेगा।

यहां यह विचारणीय है कि जब तक ये आदेश किसी के स्थान में नहीं होते, तब तक पाणिनीय मतानुसार इनमें अर्थवत्ता ही उपपन्न नहीं होती। तब भाष्यकार ने भावी आदेशों की अर्थवत्ता कह कर ५ अर्थसादृश्य से स्थान्यादेश भाव का नियमन कैसे उदाहृत किया? इससे जाना जाता है कि भाष्यकार की दृष्टि में अन्य कोई प्राचीन ऐसा व्याकरण था, जिसमें ङित्लकारों में स्वतन्त्र रूप से इन्हें प्रत्यय माना था। तन्निबन्धक अर्थवत्ता को ध्यान में रखकर भाष्यकार ने पाणिनीय मतानुसार आदेशरूप प्रत्ययों की अर्थवत्ता का निर्देश १० किया।

इस प्रकार आदेशरूप में कहे गये प्रत्ययादेश स्वतन्त्र प्रत्यय हैं, यह जानना चाहिये। इसी प्रक्रिया के अनुसार आर्ष ग्रन्थों के वे प्रयोग, जहां समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् नहीं होता, और विना समास के भी ल्यप् के रूप देखे जाते हैं, सरलता से उपपन्न हो जाते हैं। १५

३—**गणकार्य का उपलक्षणत्व**—पाणिनि ने स्वीय शास्त्र के उपदेश के लिये दो प्रकार के गण पढ़े हैं। एक—धातुगण, और दूसरा प्रातिपदिकगण। धातुगणों का समूह 'धातुपाठ' के नाम से प्रसिद्ध है, और प्रातिपदिक गणों का समूह 'गणपाठ' के नाम से।

धातुपाठ में समस्त धातुएं १० गणों में व्यवस्थित की गई हैं। २० यह व्यवस्था विकरण-प्रत्ययों की दृष्टि से की गई है। उक्त गण-व्यवस्था प्रायिक है। इसका निर्देश स्वयं पाणिनि ने धातुपाठ के अन्त में **बहुलमेतन्निदर्शनम्** (१०।३६६) सूत्र द्वारा कर दिया है। यदि पाणिनि के अनुसार इनका प्रायिकत्व स्वीकार कर लिया जाये, तो वेद में अनेक स्थानों पर छान्दस विकरण-व्यत्यय मानने की कोई २५ आवश्यकता नहीं रहती।

आधुनिक वैयाकरण इन गणों के विभागों को पूर्ण व्यवस्थित मानकर प्रयोग करने का आग्रह करते हुए पाणिनीय गणविशेष में पठित पाठ की भी उपेक्षा करते हैं। यथा—

पाणिनि का सूत्र है—**श्रुवः शृ च** (अ० ३।१।७४)। इसका अर्थ ३० है—श्रु धातु से श्नु प्रत्यय होता है, और श्रु को शृ आदेश हो जाता

है यद्यपि व्याख्या ठीक है, परन्तु आधुनिक वैयाकरण श्रु धातु का शृणोति प्रयोग ही साधु मानते हैं। इन वैयाकरणों से पूछना चाहिये कि पाणिनि ने श्रु धातु को भ्वादि में पढ़कर श्नु विकरण और शृ आदेश का विधान क्यों किया? यदि 'शृणोति' ही रूप बनाना है, तो 'श्रु' को स्वादिगण में पढ़ा जा सकता था, और श्नु प्रत्यय सरलता से प्राप्त हो सकता था। केवल 'शृ' आदेशमात्र के विधान की आवश्यकता रहती।

अब यदि पाणिनीय पाठ को ध्यान में रखा जाये, तो मानना होगा कि श्रु धातु के भ्वादिपाठ-सामर्थ्य से **श्रवति श्रवतः श्रवन्ति** रूप भी साधु हैं। वेद में तो **श्रवति** आदि प्रयोग बहुधा उपलब्ध भी होते हैं। इतना ही नहीं, धात्वादेश रूप से पठित शब्द स्वतन्त्र धातु रूप है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं। तदनुसार श्रवणार्थक 'शृ' भी स्वतन्त्र धातु है।[1]

लोक में एक से अधिक विकरणों का सहप्रयोग—हमने ऊपर कहा है कि पाणिनि ने गणों का विभाग विकरण-प्रत्ययों की दृष्टि से किया है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर एक विकरण-व्यवस्था बनती है। परन्तु वेद में कहीं दो विकरणों का सहभाव देखा जाता है। काशिकाकार ३।१।८५ की व्याख्या में लिखता है—

'क्वचिद् द्विविकरणता क्वचित त्रिविकरणता च। द्विविकरणता—इन्द्रो वस्तेन नेषतु, नयत्विति प्राप्ते। त्रिविकरणता—इन्द्रेण युजा तरुषेम वृत्रम्, तीर्यास्मेति प्राप्ते।'

---

१. सायण आदि भाष्यकारों ने **शृण्विरे शृण्विषे** को लिट् का प्रयोग माना है। हमारे विचार में यह अयुक्त है। पाणिनि ने **विदो लटो वा** (अ० ३।३।८३) से विद धातु से लट् में भी तिप् आदि के स्थान में **णल् अतुस् उस** आदि आदेश कहें हैं। यदि इन आदेशों को लट् के भी स्थानापन्न प्रत्यय स्वीकार कर लिया जाये, तो **शृण्विरे शृण्विषे** में छान्दसत्वात् सार्वधातुकत्व मानकर श्नु आदि विधान की आवश्यकता नहीं रहती। साथ ही **'द्विर्वचन-प्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्'** (अ० ६।१।८) वार्तिक की भी आवश्यकता नहीं होती। **जागार** आदि लौकिक **वेद विदतुः विदुः** प्रयोगों के समान लट् में उपपन्न हो जायेगा **'जागार'** का वर्तमानकालिक 'जागता है' अर्थ ही—**यो जागार तमृचः कामयन्ते** (ऋ० ५।४४।१४) में सम्बद्ध होता है।

अर्थात्—'नेषतु' में सिप् और शप् दो विकरण हुए हैं, और 'तरुषेम' में उ सिप् और शप् तीन विकरण।

काशकृत्स्न व्याकरण के अनुसार लोक में भी द्विविकरणता देखी जाती है। काशकृत्स्न भ्वादिगण में **शुची शूची चुची चूची अभिषवे** । (१।२।३०) धातुसूत्र पढ़ता है। इसकी व्याख्या में चन्नवीर कवि **दिवादेर्यन्** सूत्र उद्धृत करके उससे यन् (तथा भ्वादिपाठ से अन्) विकरण करके **शुच्यति शूच्यति चुच्यति चूच्यति** प्रयोग दर्शाये हैं। पाणिनि इस द्विविकरणता से बचने के लिए **शुच्य चुच्य अभिषवे** (१।३४३) धातुसूत्र यकार सहित धातु पढ़ता है।

इसी प्रकार काशकृत्स्न **उर्णुञ् आच्छादने** (२।६२) की टीका और उस पर हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।

यदि दैवादिक श्यन् विकरण के **'य'** को धातुरूप में सम्मिलित करके द्विविकरणता हटाई जा सकती है, जैसा कि पाणिनि ने शुच्यादि में किया है, तो वेद में भी वैसी ही धात्वन्तर की कल्पना करना युक्त होगा। 'नेषतु' में निष धातु (यह रूप भाष्यकार को इष्ट है, यह हम पूर्व पृष्ठ २३ पर लिख चुके हैं) और 'तरुषेम' में कण्ड्वादिगणस्थ **उषस् प्रभातभावे** (१।१।६) के समान 'तरुष्' स्वतन्त्र धातु मानी जा सकती है। उस अवस्था में 'तरुषेम' में त्रिविकरणता की आवश्यकता नहीं होगी, 'श' विकरण से रूप निष्पन्न हो जायेगा। और यदि वेद में द्विविकरणता या त्रिविकरणता इष्ट है, तो लोक में भी इसे स्वीकार करके धातुशब्दों को अधिक संक्षिप्त बनाया जा सकता है। जैसे पाणिनि के शुच्य चुच्य का रूप काशकृत्स्न ने शुच चुच इतना ही माना है। उस अवस्था में शुच की धात्वन्तर रूप से पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

इसी गण कार्य के अन्तर्गत आत्मनेपद या इट् आदि के लिये पढ़े गए अनुबन्धों का निर्देश भी प्रायिक मानना चाहिये। आत्मनेपदार्थ अनुदात्तत्व की प्रायिकता स्वयं पाणिनि ने **चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि** (२।७) में इकार और ङकार दो अनुबन्धों से दर्शाई है। इट् विधान की अनित्यता का ज्ञापन भी पाणिनि के **पतित** (अ० २।१।२३) आदि प्रयोगों से स्पष्ट है। इसी व्यवस्था का विचार करके हैम धातुपाठ के व्याख्याता गुणरत्न सूरि ने **स्कन्द** धातु पर लिखा है—

सर्वधातूनां बहुलं वेडित्यन्ये (पृष्ठ ६६)। उदात्त धातुओं के अनिट् के, तथा अनुदात्त धातुओं के सेट् के रूप प्राचीन आर्षवाङ्मय में प्रायः उपलब्ध होते हैं।

प्रातिपदिक गणों में कुछ ही गण ऐसे हैं, जिन्हें नियत माना ५ जाता है, यथा—**सर्वादीनि**। अधिकतर गण तो प्रायः आकृतिगण ही है। परन्तु नियतगण समझे जानेवाले सर्वादि प्रभृति गणों में भी शब्दों का पाठ प्रायिक है। सर्वादिगण में **अन्यतम** शब्द का पाठ नहीं हैं। परन्तु आपिशलि और पाणिनि दोनों ही आचार्यों ने शिक्षा ग्रन्थ के आठवें प्रकरण के प्रथम सूत्र में **'स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने'** १० प्रयोग में सर्वनाम संज्ञा मानकर प्रयोग किया है। जब नियत माने जानेवाले गण की ही यह स्थिति है, और वह भी आपिशलि और पाणिनि के मत में, तब अन्य गणों का प्रायिकत्व तो सुतरां सिद्ध है।

इससे स्पष्ट है कि धातुगण और प्रातिपदिक गणों के पाठों के प्रायिक होने से पाणिनि प्रभृति आचार्यों द्वारा साक्षात् अनुपदिष्ट १५ किन्तु शिष्ट प्रयुक्त प्रयोग साधु हैं, यह स्वीकार करना ही होगा।

४—**पाणिनीय नियमों से असिद्ध पाणिनीय प्रयोग द्वारा नियमान्तर की कल्पना, अथवा नियमों का प्रायिकत्व द्योतित करना**—इस प्रकरण में हम पाणिनि के कतिपय प्रयोगों द्वारा यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि पाणिनि ने जिस विषय में जो नियम अष्टाध्यायी २० में लिखे हैं, उनके विपरीत जिन शब्दों का पाणिनि ने अपने सूत्रों में प्रयोग किया है, ऐसे कुछ प्रयोगों के द्वारा वैयाकरण कुछ नियमों का ज्ञापन करते हैं। यदि उसी प्रक्रिया को अधिक विस्तार दे दिया जाए, तो बहुविध अपाणिनीय शब्दों का साधुत्व अनायास अभिव्यक्त हो जाता है। हम इसके कुछ उदाहरण उपस्थित करते २५ हैं—

सन्धिनियम—पाणिनि का प्रसिद्ध सूत्र है—**इको यणचि** (अ० ६।१।७४)। इसके द्वारा अव्यवहित अच् परे इक् को यणादेश होता है। इसी नियम के अनुसार **भू आदयः**=**भ्वादयः** प्रयोग होना चाहिये। परन्तु पाणिनि का वचन है—**भूवादयो धातवः** (अ० १।३।१)। यहां 'भू आदयः' के मध्य वकार का आगम या व्यवधान हुआ है। इस ३० स्वनियम-विरुद्ध पाणिनीय प्रयोग से यदि **'अव्यवहित अच् परे रहने**

पर इक् से परे यण् का व्यवधान भी होता है' इस नियमान्तर की कल्पना कर लें, तो संस्कृतभाषा के अनेक शब्दों की व्यवस्था सरलता से उपपन्न जाती है। भाषावृत्तिकार ने तो **इकां यण्भिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोः** (६।१।७७) वचन उद्धृत करके **दधियत्र मधुवत्र** प्रयोगों का साधुत्व दर्शाया है। इतना ही नहीं, इस नियम को तो हम सूत्रारूढ़ भी बना सकते हैं। **इको यणचि** (अ० ६।१।७४) सूत्र को हलन्त्यम् के समान द्विरावृत्त मानकर यणादेश पक्ष में **इकः** को षष्ठी मानकर, और यण्व्यवधान पक्ष में **इकः** को पञ्चम्यन्त मानकर व्याख्या कर सकते हैं। 5

इस एक नियम की कल्पना करने पर संस्कृतभाषा पर जो व्यापक प्रभाव पड़ता है, उसकी संक्षिप्त मीमांसा हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय (प्रथम भाग, पृष्ठ २८–३२) में की है। पाठक इस प्रकरण को अवश्य देखें। क्योंकि उसका यहां पुनः लिखना पिष्टपेषणमात्र होगा। १०

इसी प्रकार अन्य सन्धि-नियमों के सम्बन्ध में भी विचार किया जा सकता है। १५

विभक्ति नियम—पाणिनि के विभक्ति-नियम के अनुसार 'पर' शब्द के योग में (२।३।२९ से) पञ्चमी विभक्ति होनी चाहिए। परन्तु पाणिनि ने **ऋहलोर्ण्यत्** (अ० ३।१।१२४) आदि में बहुत्र षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों के अनुसार यदि हम यह ज्ञापन कर लें कि दिक्शब्दों के योग में षष्ठी का प्रयोग भी होता है, तो ऐसे अनेक शिष्ट प्रयोग, जिनमें 'पर' आदि दिक्शब्दों के योग में षष्ठी का निर्देश है, अञ्जसा साधु प्रयोग समझे जा सकते हैं। यथा—**एकादशिनोः परः**। ऋक्सर्वानुक्रमणी उपोद्घात। ५।५॥ २०

हिन्दीभाषा में भी पूर्व पर शब्दों के योग में पञ्चमी और षष्ठी दोनों का प्रयोग होगा है—ग्राम से पूर्व या परे, ग्राम के पूर्व या परे। २५

पाणिनि के **कर्तृकर्मणोः कृति** (अ० २।३।६५) के नियम से कृदन्त के प्रयोग में कर्म में षष्ठी होती है। परन्तु पाणिनि का स्वप्रयोग है—**तद् अर्हम्** (अ० ५।१।११६)। यहां पाणिनि ने स्वनियम को उपेक्षा करके 'अर्हम्' के योग में 'तद्' द्वितीया का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि कृदन्त के योग में कर्म में द्वितीया का प्रयोग ३०

भी हो सकता है। तदनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती का यजुर्वेद १।१२ के भाष्य में **ओषधि सेविका** प्रयोग साधु होगा।

वैयाकरणों का मत है कि किसी अर्थ में अथवा किसी उपपद को निमित्त मानकर एक से अधिक विभक्तियों का विधान किया गया ५ हो, तो भी समान वाक्य में उन विभन्न विभक्तियों का प्रयोग साधु नहीं होता। महाभाष्यकार ने कहा—

'एकस्याकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति। तद्यथा गवां स्वामी अश्वेषु च।' ३।१।४०।

अर्थात्—एक आकृति से प्रारब्ध प्रयोग दूसरी और तीसरी १० आकृति से नहीं होता। यथा—**गवां स्वामी अश्वेषु च**।

स्वामी शब्द के योग में **स्वामीश्वराधिपतिदायाद०** (२।३।३९) से षष्ठी और सप्तमी दोनों का विधान होने पर भी **गवां स्वामी अश्वेषु च** प्रयोग साधु नहीं होता। **गवां स्वामी अश्वानां च** अथवा **गोषु स्वामी अश्वेषु च** ही प्रयोग साधु है।

१५ वस्तुतः महाभाष्यकार का यह मत एकान्त सत्य नहीं है, अपितु प्रायिक है। प्राचीन ग्रन्थों में समानवाक्य में उक्त प्रकार के विभन्न विभक्तियों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

१—शतपथ ब्राह्मण का पाठ है—**अनस एव यजूंषि सन्ति। न कौष्ठस्य, न कुम्भ्यै**। १।१।२।७॥

२० २—तैत्तिरीय संहिता का वचन है—**धेन्वै वा एतद् रेतो यदाज्यम्, अनुडुहस्तण्डुलाः**। २।२।६॥

३—तैत्तिरीय संहिता का दूसरा वचन है—**इदमहममुं भ्रातृव्यमाभ्यो दिग्भ्योऽस्यै दिवोऽस्मादन्तरिक्षात्**......। १।६।६॥

इन उदाहरणों में प्रथम दो में **षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या** (२।३। २५ ६२) वार्तिक से विहित चतुर्थी, और पक्ष में यथाप्राप्त षष्ठी दोनों का समान वाक्य में ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है (कौष्ठस्य कुम्भ्यै, धेन्वै अनुडुहः) जैसे प्रयोग का भाष्यकार ने प्रतिषेध किया है। तृतीय वाक्य में और भी अधिक वैशिष्ट्य है। उसमें **अस्यै दिवः** विशेषण विशेष्य में भी विभिन्न विभक्तियों का प्रयोग उपलब्ध होता ३० है, जो साम्प्रतिक वैयाकरणों को सर्वथा असह्य है।

इससे यह स्पष्ट है कि पाणिनीय अनुशासन के नियम प्रायिक हैं।

लिङ्गनियम—पाणिनि ने अष्टाध्यायी और लिङ्गानुशासन में लिङ्ग का विधान किया है, परन्तु स्वयं पाणिनि ने अनेक प्रयोग स्व-नियमों के विपरीत किये हैं। यथा—

लिङ्गानुशासन का एक नियम है—**द्वन्द्वैकत्वम्** (नपुंसकाधिकार सूत्र ७)। इस नियम के अनुसार समाहारद्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए, परन्तु पाणिनि का एक सूत्र है—**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः** (अ० १।२।२७)। यहां समाहारद्वन्द्व में एक वचन तो है, परन्तु नपुंसकलिङ्ग के स्थान में पुँल्लिङ्ग का प्रयोग किया है। ऐसा ही एक प्रयोग **युवोरनाकौ** (अ० ७।१।१) में है। यहां समाहारपक्ष में नपुंसकलिङ्ग होने पर **युवुनः** होना चाहिए। यदि इतरेतरयोग मानें तो **युव्वोः** रूप का निर्देश युक्त होगा। वस्तुतः यहां नपुंसकलिङ्ग के स्थान में पुँल्लिङ्ग का प्रयोग जानना चाहिये।

समासनियम—समास के सम्बन्ध में पाणिनि ने विविध नियमों का विधान किया है। उनमें किस समास में किसका पूर्व प्रयोग होना चाहिये का भी विधान किया है। यथा—**अल्पाच्तरम्**, **द्वन्द्वे घि**, **अजाद्यदन्तम्** (अ० २।२।३४, ३२, ३३) आदि। परन्तु पाणिनीय सूत्रों में इन्हीं नियमों का उल्लङ्घन देखा जाता है, यथा—

क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ (अ० ३।१।१३०) में अल्पाच्तर 'संचाय्य' का पूर्व प्रयोग नहीं किया है। उत्तर सूत्र **अग्नौ परिचाय्यो-पचाय्यसमूह्याः** (अ० ३।१।१३१) में अल्पाच्तर होने से 'समूह्य' का और अजादि अदन्त होने से 'उपचाय्य' का पूर्व प्रयोग होना चाहिए, परन्तु किया है 'परिचाय्य' का पूर्व प्रयोग।

इसी प्रकार **इको गुणवृद्धी** (अ० १।१।३) तथा **नाडीमुष्ट्योश्च** (अ० ३।२।३०) में घिसंज्ञक 'वृद्धि' और 'नाडि' शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया।

समास का प्रधान नियम है—**समर्थः पदविधिः** (अ० २।१।१)। इससे समर्थ पदों का ही समास होना चाहिए। परन्तु पाणिनि ने **सुड-नपुंसकस्य** (अ० १।१।४३) असमर्थ नञ्समास का प्रयोग किया है। ऐसे असमर्थ नञ्समास लोक में भी देखे जाते हैं। यथा

'**असूर्यंपश्या राजदाराः, असूर्यंपश्यानि मुखानि, अश्राद्धभोजी**

ब्राह्मणः, अपुनर्गेयाः श्लोकाः ।' द्र०—महाभाष्य १।१।४२,४३।।

इनमें नञ् का सम्बन्ध क्रिया के साथ है, उन पदों के साथ नहीं जिनके साथ समास हुआ है। इनके अर्थ हैं—सूर्य को न देखनेवाली रानियां, सूर्य को न देखनेवाले मुख, श्राद्ध न खानेवाला ब्राह्मण, पुनः न गाये जानेवाले श्लोक।

अब हम अन्त में एक ऐसे नियम का पाणिनीय शास्त्र से ज्ञापन दर्शाते हैं, जिसको हृदयङ्गम कर लेने पर वैदिक भाषा में अनेक छान्दस कार्यों के विधान की आवश्यकता ही नहीं रहती। इतना ही नहीं, यदि इस ज्ञापकसिद्ध नियम को स्वीकार कर लिया जाये, तो संस्कृत भाषा अतिशय सरल बन जाती है। वह नियम है--

(५) वक्ता के विशेष अभिप्राय का अन्य शब्द से बोध हो जाने पर अभिप्राय विशेष को प्रकट करनेवाले प्रत्यय आदि का अभाव। भाष्यकार ने तो अनेक स्थानों पर **उक्तार्थानामप्रयोगः**[1] कहकर इस नियम को स्वीकार किया है। अब इस विषय में पाणिनीय नियम पर विचार कीजिये।

पाणिनि का प्रसिद्ध नियम है—**विभाषोपपदेन प्रतीयमाने** (अ० १।३।७७)। इसका अर्थ है—स्वरित और ञित् धातुओं से कर्त्रभिप्रायक्रियाफल (कर्ता अपने लिये क्रिया कर रहा है इस अर्थ) में जो आत्मनेपद (१।३।७२ से) कहा है वह अर्थ यदि किसी उपपद (= समीपोच्चारित पद) से ज्ञात हो जावे, तो आत्मनेपद विकल्प से होता है। यथा—**देवदत्तः स्वमोदनं पचति, देवदत्तः स्वमोदनं पचते; स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते।**

पाणिनि के इस नियम से स्पष्ट है कि किसी अर्थविशेष का बोध कराने के लिए यदि कोई प्रत्यय कहा है, और वह अर्थ अन्य शब्द से बोधित हो गया है तो उस विशेष प्रत्यय के उच्चारण की आवश्यकता नहीं रहती। **पचते** में तीन अंश हैं—एक पच् धातु, यह क्रिया को कहता है। दूसरा (**अ=शप्**), यह विकरण कर्त्ता का अभिधायक है। तीसरा '**ते**' यह पुरुष वचन तथा क्रियाफल के कर्तृगामित्व को कहता है। **ओदनं पचते**=अपने खाने के लिए चावल पकाता है। **पचति** में भी ये ही तीन अंश हैं। इसमें तिप् क्रियाफल के परगामित्व का बोध

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २२ टि० २।

कराता है। **ओदनं पचति**—दूसरे के लिए अर्थात् स्वामी आदि के लिए ओदन पकाता है। जब ते प्रत्यय का एक अंश क्रियाफल का कर्तृगामित्व स्वं पद से बोधित हो गया तो वक्ता की आत्मनेपदांश की विवक्षा नहीं रहती। शेष अर्थ जो **ते** और **ति** में समान है, उसे व्यक्त करने के लिए किसी का भी प्रयोग कर सकते हैं। इसी ५ नियम को भाष्यकार **उक्तार्थानामप्रयोगः** शब्दों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण लीजिए—परोक्ष भूत अर्थ को व्यक्त करने के लिए **परोक्षे लिट्** (अ० ३।२।११५) से लिट् का विधान किया है। यदि परोक्षभूत अर्थ **स्म** पद से कह दिया जाये, तो १० लिट् प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रहती। केवल पदपूर्त्यर्थ किसी भी काल विशेष बोधक लकार का प्रयोग कर सकते हैं। **प्रथमातिक्रमे मानाभावात्** नियम के अनुसार तथा रूप की सरलता की दृष्टि से साधारण जन लट् का प्रयोग करते हैं। इसी बात को पाणिनि ने **लट् स्मे** (अ० ३।२।११८) सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया है। १५

यदि उक्त सूत्रों द्वारा ज्ञापित **उक्तार्थानामप्रयोगः** नियम को खुली आखों से देखें तो विदित होगा कि इस एक नियम से सहस्रों वैदिक और प्राचीन आर्ष प्रयोग बड़ी सरलता से समझ में आ जाते हैं। यथा—

(१) **सोमो गौरी अधि श्रितः** (ऋ० ६।१२।३) में सप्तम्यर्थ २० के अधि द्वारा उक्त हो जाने से सप्तमी विभक्ति का प्रयोग नहीं होता। इसे ही पाणिनि ने **सुपां सुलुक्** (अ० ७।१।३६) द्वारा दर्शाया है।[1]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् (ऋ० १।१६४।३६) में **परमे** विशेषण गत सप्तमी से सप्तम्यर्थ का बोध हो जाने से **व्योमन्** विशेष्य में २५ सप्तमी का अभाव देखा जाता है।[2]

---

१. अनेन लोपेनानुत्पत्तेरेवान्वाख्यानमुक्तम्। महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२। ६४, पृष्ठ ८६ निर्णयसागर सं०।

२. द्रष्टव्य—किंच विशेष्यविभक्त्या विशेषणीयसंख्यादीनामुक्तावपि विशेषणाद् यथा साधुत्वाय विभक्तिः क्रियते। महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।२।६४, ३० पृष्ठ ८३ निर्णय० सं०।

चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति (ऋ० १।१६२।६) में 'ये' पद से कर्त्ता के बहुत्व का बोध हो जाने से क्रिया द्वारा बहुत्व प्रदर्शन की आवश्यकता न रहने के कारण एक वचन का प्रयोग हुआ है।

अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः (ऋ० ७।१०४।१५) में अन्य पुरुषत्व ५ का बोध सः पद से हो जाने पर किया में अन्य पुरुषत्व के बोधक प्रथम पुरुष के प्रत्यय की आवश्यकता नहीं रहती, अतः शेष अर्थ के बोधनार्थ मध्यम पुरुष के प्रत्यय का प्रयोग हो गया।

अब हम इसी प्रकार के कुछ लौकिक शिष्ट प्रयोग प्रस्तुत करते हैं—

१० **विराट्द्रुपदौ......ययुः**। महा० द्रोण० १८६।३१॥

शालावृका........विन्दति। महा० शान्ति० १३३।८॥

वयं......प्रतिपेदिरे। महा० शान्ति० ३३६।३१॥

यूयं........अपराध्येयुः। महा० वन० २३९।१०॥

वयं.......ददृशिरे। महा० शान्ति० ३३६।३५॥

१५ इस संक्षिप्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि यदि पाणिनीय शास्त्र की भाषाविज्ञान की दृष्टि से व्याख्या की जाये और पाणिनीय नियमों और प्रयोगों के आधार पर ज्ञापित होने वाले नियमों का सामान्य नियमों के रूप में प्रयोग किया जाये तो लोकभाषा से लुप्त सहस्रों मूल धातुओं और प्रातिपदिकों का परिज्ञान हो सकता है। २० संस्कृत भाषा का विपुल शब्द-समूह आंखों के सन्मुख नर्तन करने लगता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से भट्टकुमारिल ने कहा था—

'यावांश्च अकृतको विनष्टः शब्दराशिः तस्य व्याकरणमेवैकम् उपलक्षणम्, तदुपलक्षितरूपाणि च।' तन्त्रवार्तिक १।३।१२, पृष्ठ २३९, पूना सं०।

२५ जब अष्टाध्यायी की उक्त प्रकार की वैज्ञानिक व्याख्या से संस्कृत-भाषा की लुप्त अलुप्त विपुल शब्दराशि का परिज्ञान होगा तभी संसार की विविध भाषाओं का यथोचितरूप में तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है। अन्यथा थोड़े से ज्ञात शब्दों के आधार पर किया गया तुलनात्मक अध्ययन और उसके द्वारा निकाले गये परिणाम सदा भ्रान्त ३० होंगे। इस विषय में योरोप के प्रमाणीभूत प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक बॉप

का एक उदाहरण देकर इस विषय को सामाप्त करते हैं।

बॉप लिखता है—कतिपय शब्दों की तुलना से ज्ञात होता है कि योरोपियन भाषाओं की अपेक्षा बंगला संस्कृत से अधिक दूर है। बंगला के 'बाप' और 'बोह्निनीं' शब्दों का संस्कृत के 'पितृ' और 'स्वसृ' शब्दों से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।' ५

वै० वा० इति० भाग १ पृष्ठ ६६,६७ में उद्धृत

विचारे बॉप को यह भी पता नहीं था कि संस्कृत में पिता के लिए '**वाप**' और स्वसा के लिए '**भगिनी**' शब्द का भी व्यवहार होता है। (बंगला के बाप और बोह्निनी शब्दों का संस्कृत के वाप और भगिनी से सीधा सम्बन्ध है।) अन्यथा वह ऐसा मिथ्या निष्कर्ष न १० निकालता। इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।

□

तीसरा परिशिष्ट

नागोजिभट्ट-पर्यालोचित भाष्यसम्मत अष्टाध्यायीपाठ

नागोजिभट्ट-पर्यालोचित भाष्यसम्मत अष्टाध्यायी पाठ का एक हस्तलेख वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती-भवनस्थ ५ संग्रहालय में विद्यमान है। मूलकोश सं० १८८५ वि० का लिखा हुआ है। इसकी हस्तलेख संख्या आ० ६१५० है। हस्तलेख में दो पत्रे (=४ पृष्ठ) हैं। यह अत्यन्त जीर्णशीर्ण और अशुद्ध तथा अस्पष्ट लिखा हुआ है। इस हस्तलेख की प्रतिलिपि हमारे विद्यालय (वाराणसी) के भूतपूर्व छात्र श्री ओम्प्रकाश व्याकरणाचार्य एम० ए० १० ने श्रावण वि० सं० २०२३ में इसकी प्रतिलिपि करके हमें दी थी।

नीचे सूत्र के साथ [ ] कोष्ठक में जो सूत्र संख्या दी जा रही है, वह रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायी (संस्क० ७, सं० २०२८) के अनुसार है और यह सूत्र संख्या हमने दी है।

हस्तलेख का पाठ

१५ ### [अथ प्रथमोऽध्याय]

[१।१।१७] उञः, ऊँ—योगविभागोऽत्र भाष्यकृतः।
[१।१।४९] स्थानेऽन्तरतमः, स्थानेऽन्तरतमे पाठान्तरम्[1]।
[१।३।२९] समो गम्यृच्छिभ्याम्—स्वरित्यादि प्रक्षिप्तम्[2]।
[१।४।१] आकडारात्—प्राक्कडारात् परं कार्यम् इति पाठा-
२० न्तरम्[3]।

---

१. कुतः पुनरियं विचारणा? उभयथा हि तुल्या संहिता 'स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः' इति। द्र०—अत्रैव सूत्रे महाभाष्यम्।

२. वृत्तिकृतेति शेषः (नागेशमते)। महाभाष्येऽत्र तदर्थबोधकवार्तिकद्वय-दर्शनात्।

२५ ३. उभयथाह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। केचिद् 'आकडारादेका संज्ञा' इति, केचित् 'प्राक्कडारात् परं कार्यम्' इति। अत्रैव सूत्रे भाष्यं द्रष्टव्यम्।

[१।४।४३] दिवः कर्म—इति आकडारसूत्रभाष्यस्वरसः[1] [पाठः], 'च' सहित पाठो वृत्तौ।

[१।४।५५] तत्प्रयोजको हेतुः—अत्र चकारस्य सैव व्यवस्था।[2]

[१।४।५८] प्रादयः, [उपसर्गाः] क्रियायोगे—योगविभागोऽत्र भाष्यकृतः। ५

[१।४।५९] गतिः—चकारो दिवः कर्मेतिवत्।[3]

[२।१।११] विभाषा, अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्याः—योग-विभागोऽत्र भाष्यकृतः।

[इति प्रथमोऽध्यायः]

[अथ द्वितीयोऽध्यायः] १०

[२।१।२२] द्विगुः—चकारो गतिरितिवत्।[4]

[२।१।४७] पात्रेसमितादयः—सम्मित इत्यपि पाठः।[5]

[२।१।६६] युवाखलति—'जरद्भिः' अपपाठः।[6]

॥ इति द्वितीयोध्यायः ॥

[अथ तृतीयोऽध्यायः] १५

[३।१।९५] कृत्याः—'प्राङ्ण्वुलः' इति प्रक्षिप्तम्।[7]

---

१. 'दिवः कर्म—साधकतमं करणं दिवः कर्म च चकारः कर्तव्यः। द्र०—महा० १।४।१॥

२. अत्र 'स्वतन्त्रः कर्ता तत्प्रयोजको हेतुश्च—चकारः कर्तव्यः' इत्यादि १।४।१ सूत्रस्थं भाष्यमनुसन्धेयम्। २०

३. अत्र 'उपसर्गाः क्रियायोगे गतिश्चेति चकारः कर्तव्यः' इत्यादि १।४।१ सूत्रस्थं भाष्यमनुसन्धेयम्।

४. यथा 'गतिः' [१।४।५९] सूत्रे चकाररहितः पाठस्तथैवात्रापीति भावः। अत्र 'तत्पुरुषत्वे द्विगुश्चग्रहणं कर्तव्यम्। तत्पुरुषः, द्विगुश्च इति चकारः कर्तव्यः' इत्याद्याकडार [१।४।१] सूत्रभाष्यमनुसन्धेयम्। २५

५. काशिकावृत्तौ पाठः।

६. अत्रैव सूत्रभाष्यप्रदीपे कैयटः—'जरद्भि. इत्यपि पाठं शिष्या आचार्येण बोधिता इति युवजरन् इत्यपि भवति।' अत्रैव प्रदीपोद्योते नागेशः—'अत्र मानं चिन्त्यम्। युवजरन् इति बहुलग्रहणेनापि सुसाधम्।'

७. अत्रैव सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात्। ३०

[३।२।७६,७७]-अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते क्विप् च इति स्थाने] क्विप् च, अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते—इति ब्रह्मभ्रूण [३।२।८७] इति सूत्र-भाष्यस्वरसः।

[३।३।७८] अन्तर्घनोदेशे—'घणः' इत्येके,[1] 'अन्तर' इत्यन्ये।[2]

५ [३।३।१२२] अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च—'धारावायाः' इति प्रक्षिप्तम्।[3]

[३।४।३२] प्रमाणे—स च व्यवहितः पाठो वृत्तौ।[4]

॥ इति तृतीयोऽध्यायः]

[अथ चतुर्थोऽध्याय]

१० [४।१।१५] टिड्ढाणञ्...क्वरपः—[5]'ख्युनाम्' इति प्रक्षिप्तम्

[४।१।३७] वृषाकप्य.........[6]कुसिदानामुदात्तः—'कुसीद' इत्यपपाठः।

[४।१।८१] दैवयज्ञि......काण्ठेविद्धि...—'काण्डे' इति पाठान्तरम्।[7]

१५ [४।१।१३] मातृष्वसुः[8]—चकारपाठोऽत्र वृत्तौ।

[४।१।१५५, १६७,१७१] कौसल्यकार्मा.....(२५५) तालव्यपाठः केषांचित्। एवं साल्वेय (१६७)[9] साल्वावयव (१७१) इत्यादावपि।

[४।१।१६५ इत्यनन्तरम्] वृद्धस्य च पूजायाम्, यूनश्च कुत्सा-

२० याम्—द्वे वार्तिके प्रक्षिप्ते।[10]

---

१. द्रष्टव्याऽत्रस्था वृत्तिः। २. अत्र प्रमाणमनुसन्धेयम्।

३. हलश्च [३।३।१२१] सूत्रभाष्ये तादृग्वार्तिकदर्शनात्।

४. 'वर्षप्रमाणे चोलोपोऽस्यान्यरस्याम्' पाठ इति भावः। वृत्तौ सम्प्रति चकारोऽन्यत्रोपलभ्यते।

२५ ५. अत्रैव सूत्रभाष्ये तादृगुपसंख्यानस्य दर्शनात्।

६. किमत्र प्रमाणमिति। न व्यक्तीकृतं नागोजिभट्टेन।

७. अत्र 'कण्ठविद्ध' इत्यपि पाठान्तरम्। द्र०—शब्दकौस्तुभः ४।१।८१॥

८. किमत्र प्रमाणमिति नोल्लेखि भट्टेन। उद्योतेऽप्यत्र सूत्र इत्थमेवाह नागेशः। ९. नाम नात्र निर्दिष्टम्।

३० १०. 'जीवति तु वंश्ये युवा' [४।१।१६३] सूत्र भाष्ये 'वृद्धस्य च पूजायाम्

[४।२।२] लाक्षारोचनाट् ठक्—'शकलकर्दमाभ्याम्' इति प्रक्षिप्तम्।[1]

[४।२।४१] ब्राह्मणमाण ·····यन्—'यत' इति त्वपपाठः।[2]

[४।२।४२] ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्—'गजसहाय' इति प्रक्षिप्तम्।[3]

[४।२।१२६] कच्छाग्निवक्त्रवर्तोत्तरपदात्—'गर्त' इत्यपपाठः।[4] 'जनपदतदव०' [४।२।१२३] इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम्।

[४।३।११७,११८] संज्ञायां कुलालादिभ्यो वुन्—योगविभागोऽत्र भाष्यकृतः।[5]

[४।३।१३१ इत्यनन्तरम्] 'कौपिञ्जल' इति 'आथर्वणिक' इति द्वे वार्तिके प्रक्षिप्ते।[6]

[४।३।१४०] शम्याः ष्ट्लञ्।[7]

[४।३।१४६] नोत्त्वद्वर्ध्रबिल्वात्—वर्ध' इति द्विः।[8]

[४।४।१७] विभाषा विवधात्—'वीवध' इति प्रक्षिप्तम्।[9]

[४।४।४२] प्रतिपथमेति [ठंश्च]—'ठञ् च' इति द्विः।[10]।

इति, 'अपत्यं पौत्रप्रभृति'० [४।१।१६२] सूत्रभाष्ये 'जीवद्वंश्यं च कुत्सितम्' इति वार्तिकदर्शनादिति भावः। १. अत्रैव वार्तिकदर्शनादिति शेषः।

२. काशिकावृत्तावप्ययमेव पाठः, केषुचिद् हस्तलेखेषु 'यत्' पाठो दृश्यते।

३. अत्रैव सूत्रभाष्ये तादृग्वचनस्य दर्शनात्।

४. द्रष्टव्योऽत्र लघुशब्देन्दुशेखरः (भाग २, पृष्ठ २६०)।

५. अत्रैव सूत्रभाष्ये 'योगविभागः करिष्यते' इति वचनात्।

६. रैवतिकादिभ्यश्छः [४।३।१३१] सूत्रभाष्ये वार्तिकपाठात्।

७. अत्र 'ञितश्च तत्प्रत्ययात्' [४।१।१५३] भाष्यप्रदीपोद्योते 'भाष्यप्रामाण्यात् ष्ठलञः टित्त्वस्यैवाङ्गीकारान्न दोषः' इति नागेशवचनमनुसन्धेयम्। तुलनीयम्—'ष्ठलञ्' अत्र टित् प्रत्ययः। लघुशब्देन्दुशेखरः (भाग २, पृष्ठ २८०)

८. द्विःप्रकारकोऽपि पाठः प्रामाणिक इति भावः। अयं पाठः ४।२।१२४ सूत्रभाष्येण द्योत्यते। ९. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात्।

१०. अत्र द्विः पदेन किमभिप्रेतमिति न ज्ञायते। अत्र 'वृत्तौ त्वेतद् विहितप्रत्ययो नियुक्तः' इति लघुशब्देन्दुशेखरे (भाग २, पृष्ठ २८७) नागेशः। एतद् व्याख्याने भैरवमिश्र आह—'तेनादिवृद्धिरहितमुदाहरणं युक्तम्' इति। सम्भवत उभयथाऽपि पाठोऽत्र नागेशाभिप्रेतः स्यात्।

[४।४।५३] किशरादिभ्यः—दन्त्यमध्यपाठान्तरम्।[1]
[४।४।६४] बह्वच्पूर्वपदाट् ठञ् च—'ठञ्' इति वृत्तौ।[2]

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

[अथ पञ्चमोऽध्यायः]

५ [५।१।२५] कंसाट्ठिठन्[3]—'टिठन्' इति वृत्तौ।
[५।१।३५ इत उत्तरम्] अध्यर्धपूर्वद्विगो[4]......'द्वित्रिपूर्वादण् च' इति प्रक्षिप्तम्।[5]

[५।१।५७,५८] तदस्य परिमाणं संख्यायाः [संज्ञा] संघसूत्राध्ययनेषु योगविभागोऽत्र भाष्ये।[6]

१० [५।१।६२] त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे......तोर्बति द्वि०:।[7]
[५।१।६३,६४] तदर्हति छेदादिभ्योनित्यम्—योगविभागोऽत्र भाष्ये कृतः।[8]

[५।२।१०१] प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः—'वृत्ति' इति प्रक्षिप्तम्।[9]
[५।३।५] एतदोऽन्—'अश्' इत्यपपाठः।[10]

---

१५ १. लघुशब्देन्दुशेखरे तु नागेशः 'किसरादि' दन्त्यमध्यप्रतीकमुपादाय तालव्यमध्यपाठो वृत्तौ' इत्युक्तवान्। भाग २, पृष्ठ २८८।

२. प्रत्ययस्य ञित्वे 'त्रायोदशायन्यिकः' इत्येवमादावादिवृद्धिः स्यात्। किमत्र तत्त्वमिति देवा ज्ञातुमर्हन्ति।

३. अत्र ठकारवति पाठे प्रमाणं चिन्त्यम्। स्त्रियां 'कंसिकी' इति ङीबपि
२० न प्राप्नोति। ४. अत्रास्य पाठस्य प्रयोजनं चिन्त्यम्।

५. शाणाद्वा [५।१।३५] सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात्।

६. नात्र भाष्यकृता योगविभागो प्रदर्शितः। कैयटेन तु अत्रैव 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते खारशताद्यर्थम्' इति वार्तिकं विवृण्वता 'तदस्य परिमाणम्' इति योगविभागः कर्तव्यः' इत्युक्तम्। नागेशेनात्रोद्योते किमपि न लिखितम्। लघुशब्देन्दु-
२५ शेखरे तु 'उत्तरेण योगविभागोऽत्र ध्वनित.' इत्युक्तम्।

७. पाठोऽत्र भ्रष्ट इति कृत्वाऽभिप्रायो न ज्ञायते।

८. आर्हादगोपुच्छपरिमाणाट्ठक् (५।१।१९) सूत्रभाष्ये योगविभाग उक्तः।

९. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनादिति भावः।

१०. 'अश्' पाठः काशिकावृत्तेः। अत्र शित्त्वादेव सर्वादेशः सुगमः।

[५।३।७१,७२] अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः कस्य च दः— योगविभागो वृत्तौ ।[1]

[५।३।१०३] शाखादिभ्यो यः—'यत्' इति वृत्तौ, 'उगवा' [५।१।२[इति सूत्रे भाष्ये च ।[2]

[५।३।११७] पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ—दिभ्योऽणञौ इति द्विः ।[3] ५

[५।४।५०] कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य कर्तरि च्विः—'अभूततद्भावे' प्रक्षिप्तम् ।[4]

[५।४।१२०] सुप्रात···—सारिकुक्ष—'सारकुक्ष' इति द्विः ।[5]

[५।४।१२१] नञ्सुदुर्भ्यो हलिसक्थ्योः—'शक्त्योः' इति पाठान्तरम् ।[6] १०

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

[अथ षष्ठोऽध्यायः]

[६।१।३२] ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च—योगविभागोऽत्र भाष्ये ।[7] १५

[६।१।६१ सूत्रे] अपस्पृधेथा···राशीर्ताः—'अचि शीर्षः' इति पाठान्तरम् ।[8]

---

१. कथमिदमेकसूत्रमिति न व्यक्तीकृतं नागोजिभट्टेन । भाष्ये सहनिर्देश्य व्याख्यानादेवैकसूत्रत्वं तेनावगतं स्यात् ।

२. एतेन 'यः' पाठोऽसाधुरित्यभिप्रेतं स्यात् । तथा च उगवादि [५।१।२] २० सूत्रभाष्यप्रदीपोद्योते 'शाखादिभ्यो यः पाठस्त्वसाम्प्रदायिकः' इत्युक्तं नागेशेन ।

३. द्विःप्रकारकोऽपि पाठः साध्विति भाव, ।

४. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात् । ५. उभावपि पाठौ साधू इति भावः ।

३. 'नञ्सुदुर्भ्यो०' पाठोऽयं कुत्रत्य इति न व्यक्तीकृतम् । अत्र 'हलिशक्त्यो रिति केचित् पठन्ति' इतिवृत्तिवचनमनुसन्धेयम् । २५

७. अत्रैव सूत्रभाष्ये योगविभाग उक्तः ।

८. अत्र पाठो भ्रष्टः । अत्रैवं पाठः शोधनीयः—'राशीताः—राशीर्तः इति पाठान्तरम् । इतोऽग्रे 'अचिशीर्षः' इति प्रक्षिप्तम् इति पाठो द्रष्टव्यः । अपस्पृधेथा ··सूत्रोपदानं किमर्थमिति न ज्ञायते । 'अचि शीर्षः' इति कस्य पाठान्तरमिति न ज्ञायते । वस्तुस्तु 'ये च तद्धिते [६।१।६०] सूत्रभाष्ये वार्तिकमिदम् ।' ३०

[६।१।७३] दीर्घात् पदान्ताद्वा—इति योगविभागः प्रत्याहाराह्निके भाष्ये।[1]

[६।१।६६ इत्यनन्तरम्] नित्यमाम्रेडिते डाचि—इति च।[2]

[६।१।८६] एत्येधत्यूठ्सु।[3]

५ [६।१।१११]—नान्तःपादम्–'प्रकृत्यान्तःपादम्' इति पाठान्तरम्।[4]

[६।१।१२०, १२१] इन्द्रे प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्।[5]

[६।१।१३१ इत्यनन्तरम्] 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इति प्रक्षिप्तम्।[6]

१० [६।१।१३२,१३३] सम्परिभ्यां भूषणसमवाययोः करोतौ—अयं पाठोऽत्तउत् सार्वधातुके [६।४।११०] सूत्रभाष्ये स्पष्टः।[7] वृत्तौ तु सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे समवाये च' इति सूत्रपाठः। सम्पर्युपेभ्यः—इति त्वपाठः।

[६।१।१४२,१४५] त्रिष्किरः शकुनौ वा—'शकुनिर्विकरो वा'
१५ इत्यपपाठः।[8] इत उत्तरम्–'आश्चर्यमनित्ये' इति पाठ्यम्।[9]

---

१. ऐऔच् सूत्रभाष्य इति शेषः "यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि 'दीर्घात् पदान्ताद्वा' इत्येव ब्रूयात्' इति भाष्यवचनम्। करोति ब्रूयात्' क्रिययोः सूत्रकार एव कर्ता। अतोऽनेन भाष्येण सूत्रकारस्यैकं सूत्रमिति न वक्तुं शक्यते।

२. कोऽत्राभिप्राय इति न ज्ञायते। चकारेण कस्य समुच्चय इत्यपि न
२० व्यज्यते। नाम्रेडितस्य [६।१।६६] सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात् प्रक्षिप्तम् इति वक्तव्यम्।

३. अत्र पाठव्यत्यासो जातः। अयं पूर्वं पठनीयः। अस्योपन्यासे किं प्रयोजनमिति न व्यक्तीकृतम्। छ्वोःशूडनुनासिके च [६।४।१९] सूत्रभाष्यानुसारमिह एत्येधत्यूठ्सु' इत्येव पाठः।

२५ ४. इकोऽसवर्णे० [६।१।१२३] सूत्रभाष्ये 'प्रकृत्येतदनुकृष्यते' इति वचनात्। ५. भाष्यानुसारम् 'इन्द्रे च नित्यम्' इत्यत्रापि नित्यपाठ इति व्यज्यते। उत्तरसूत्रे पुनर्नित्यग्रहणस्य च प्रयोजनान्तरमुक्तम्।

६. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात्। ७. इह अर्थतोऽनुवादो भाष्यकारेण कृतः, न तु सूत्रपाठ उद्धृतः। ८. अत्रैव वार्तिकदर्शनात्।

३० ९. भाष्ये पूर्वापरव्याख्यानदर्शनादिति शेषः।

[६।१।१५० इत्यनन्तरम्] कारस्करो वृक्षः—इति प्रक्षिप्तम् ।[1]
[६।१।१५८, १५९] तद्धितस्य कितः—योगविभागोऽत्र भाष्ये ।[2]
[६।२।५२] अनिगन्तोऽञ्चतावप्रत्यये—'तौ व' इति वृत्तौ ।[3]
[६।२।९२,९३] अन्तः सर्वं गुणकार्त्स्न्ये—योगविभागोऽत्र वृत्तौ ।[4]
[६।२।१०७] उदाराश्वेषुषु क्षेपे—योगविभागोऽत्र वृत्तौ ।[5] ५
[६।२।१०९] निष्ठोपसर्गपूर्वावन्यतरस्याम्—'पूर्वमन्य' इति-पाठान्तरम् ।[6]

[६।२।१४२, १४३] अन्तः थाथ—इत्यत्र योगविभागो वृत्तौ ।[7]
[६।३।६] आत्मनश्च—'पूरणे' इति वार्तिकम् ।[8] आत्मनश्च पूरणे' सर्वमेव वार्त्तिकमिति हरदत्तः ।[9] १०

---

१. पारस्करादिगणे (६।१।१५१) 'कारस्करो वृक्षः' इति गणसूत्रस्य दर्शनात् ।

२. अत्र 'गोत्रे' कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' (४।१।९८) सूत्रस्य भाष्यं प्रमाणम् ।

३. नागेशेन 'तावप्रत्यये' इति भाष्यानुगुणः पाठ इति कुतो विज्ञायीति न ज्ञायते । अस्यैव सूत्रस्य भाष्ये 'चोरनिगन्तोऽञ्चतौ व प्रत्यये' इति वार्तिके १५ तद्व्याख्याने चोभयविधः पाठ उपलभ्यते । अत्र कीलहार्नसंस्करणेऽन्ते पाठभेदौ द्रष्टव्यौ । ४. अनयोरेकसूत्रत्वे प्रमाणं नोपन्यस्तं नागेशेन । अत्रानयोः सह-निर्देशादेकसूत्रमिति भ्रान्तो नागेश इति सम्भाव्यते ।

५. अत्रैव सूत्रे 'उदराश्वेषुषु क्षेपे' त्येतस्मान्नञ् सुभ्यामित्येतद् इविप्रतिषेधेन इति पाठदर्शनादेकसूत्रत्वमनुमितं स्यान्नागेशेन । अत्रस्थः प्रदीपोद्योतोऽपि २० द्रष्टव्यः ।

६. '०पसर्गपूर्वावन्य०' इति भाष्यानुगुणः पाठ इति कुतो विज्ञायि नागेशे-नेति नोक्तम् ।

७. भाष्येऽत्र 'अन्तः' इत्येव सूत्रं व्याख्यायते । कदाचिद् 'ग्रहवृदृनिश्चिगम-श्च' (३।३।५८) सूत्रभाष्ये उभयोः सहपाठाद् भ्रान्तोऽत्र नागोजिभट्टः । २५

८. 'आज्ञायिनि च' (६।३।५) इति सूत्रभाष्यप्रदीपोद्योते कृत्स्नस्यैव वार्ति-कत्वं ब्रूते नागेशः । तदेवं स्ववचोविरोधादेकतद् चिन्त्यम् । अयं भाष्यसम्मतः सूत्रपाठः कदाचिदुद्योतारं पूर्वं निर्मितं स्यात् । अपि च 'वैयाकरणाख्यायाम्' (६।३।७) इत्यत्र 'परस्य च' शब्देन इति चेन रशब्दप्रतिद्वन्द्वितया आत्मशब्द-स्यैव ग्रहणम् । तदुभयं चैकसूत्रमित्याहुः' इत्युक्तम् । ३०

९. अस्य सूत्रस्यैव वृत्तिव्याख्यायां पदमञ्जर्यामाह हरदत्तः ।

[६।३।३९] स्वाङ्गाच्चेतः—'अमानिनि' इति प्रक्षिप्तम् ।[1]

[६।३।९२,९१] समः समिरञ्चतावप्रत्यये[2] विष्वग्देवयोश्च टेरद्रिः[3]—'विष्वग्देवयोश्च टेरञ्चतावप्रत्यये,[4] समः समि' इति वृत्तौ पाठः ।

५ [६।४।१००][5] घसिभसोर्हलि—'हलि च' इत्यपपाठः ।[6]

[६।४।५६] ल्यपि लघुपूर्वात्—पूर्वस्य इति पाठान्तरम्[7]

[६।४।१३२] वाह ऊट् ।[8]

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

[अथ सप्तमोऽध्याय]

१० [७।२।२३] घुषिरविशब्दने—घु [षे] रिति द्विः ।[9]

---

१. अत्रैव सूत्रभाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

२. 'अञ्चतावप्रत्यये' इति भाष्यानुकूलः पाठ इति कुतो व्यज्ञायि भट्टेनेति न ज्ञायते । एतत्सूत्रभाष्यप्रदीपोद्योते तु नागेशेन 'अञ्चतौ वप्रत्यय' इत्येव पाठः स्वीकृतः । तदाह—"अतएव सूत्रे 'वप्रत्यये' इति चरितार्थम्" इति । अन्यथा १५ 'अप्रत्यये' इति ब्रूयात् । अत्र ६।२।५२ सूत्रपाठटिप्पण्यपि द्रष्टव्या ।

३. भाष्ये 'समः समि नहि वृत्ति······क्वौ' इत्युक्त्वा 'किमर्थमञ्चति नह्यादिषु क्विब्ग्रहणं क्रियते' इत्यादिपाठेनायं सूत्रपाठ ऊहितो भट्टेन ।

४. वृत्तौ 'अञ्चतौ वप्रत्यये' इत्येव पाठः, न तु नागेशभट्टनिर्दिष्टः ।

५. अत्र लेखकप्रमादात् पौर्वापर्यव्यत्यासः पाठस्याजनि ।

२० ६. भाष्ये चकाररहित एव पाठः । अत्राह कैयटः प्रदीपे—'अन्यत्रापीति-वचनाद् वार्तिककारश्चकारं न पपाठेति लक्ष्यते ।'

७. अत्र नागेशेनोभौ पाठौ स्वीकृतौ । परन्तु एतत्सूत्रभाष्यात् 'ल्यपिलघु-पूर्वस्य' इत्येव मूलसूत्रपाठ इति ज्ञायते । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' पाठस्य तु मुक्त-कण्ठेन वक्तव्यत्वमुक्तम् ।

२५ ८. अत्रैव सूत्रभाष्ये 'ऊड् आदि कस्मान्न भवति ? आदितष्टिद् भवति इत्यादिः प्राप्नोति इति वचनात् टित्वमेव भाष्यसम्मतमिति स्पष्टम् । 'च्छ्वोः शूड०' [६।४।१९] सूत्र भाष्यमप्यत्रैवानुकूलम् ।

९. द्विविधोऽपि पाठः प्रामाणिक इति भावः । 'घुषेर्विभाषा' इति अत्रैव सूत्रभाष्ये वचनात् तादृशोऽपि पाठः सम्भाव्यते ।

[७।२।३४] ग्रसितस्कभित—इति सूत्रे 'क्षरिति' इत्युत्तरं 'क्षमिति' इति केचित् पठन्ति ।[1]

[७।२।४८] तीषसहलुभ ...'तीषु' इत्यपपाठः ।[2]

[७।२।६०[तासि च क्लृपः—'क्लृपः' इति [अपपाठः] ।[3]

[७।२।७०,७१[ईशस्से ईडजनो ध्वे च[4]—'ध्वें च' इति वृत्तौ पाठः ।[5] ५

[७।२।८०] अतो येयः—'अतो या इयः' इति पाठो मुक् [७।२।८२] सूत्रभाष्ये ।[5]

[७।३।१०] उत्तरपदस्य—अत्र 'च' सहितः पाठो वृत्तौ ।[6]

[७।३।७५] ष्ठिवुक्लमुचमां शिति—'क्लम्याचमां शिति' इत्यपपाठः ।[7] १०

[७।३।७७] इषगमियमां छः—'इषुगमि' इत्यपपाठः ।[8]

[७।३।११७,११८,११९] इदुद्भ्यामौदच्च घेः—अत्र सूत्रत्रययोगविभागो भाष्ये ।[9]

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥ १५

---

१. अत्र 'क्षमितिरहितः' 'क्षरितिवमिति' इत्येव पाठो भाष्यानुगुण इति कथं निरधारि नागोजिनेति न ज्ञायते ।

२. अत्रैतत्सूत्रस्य काशिकावृतिर्भाष्यप्रदीपं चावलोकनीयम् ।

३. 'क्लृपः' इति पाठो भाष्यकाराभिमत इति कथं विज्ञायि नागेशेनेति नोक्तम् । अपि च 'कलृप इति' इत्यस्य को भाव इति न ज्ञायते । अत्र कदाचित् 'अपपाठः' पद नष्टं स्यात् । द्रष्टव्यः—कृपो रो लः (८।२।१८) सूत्रविषयको लेखः । २०

४. कथमिमौ पाठौ भाष्यसम्मताविति नोक्तं नागेशेन । भाष्यप्रदीपोद्योते तु 'अत्र इडजनोः स्ध्वे च' इति पाठो भाष्य इत्युक्तम् ।

५. आने मुक् (७।२।८२) इतिसूत्रभाष्ये 'अतो येय इत्यत्र अकारग्रहणं पञ्चमीनिर्दिष्टम्' इत्यस्य स्थाने 'अतो या इय इत्यत्र अकारः......' इत्यपि पाठान्तरमुपलभ्यते । तदाश्रित्योक्तवचनं नागेशस्येति ज्ञेयम् । २५

६. मुद्रितायां काशिकावृत्तौ चकाररहित एव पाठ उपलभ्यते ।

७. भाष्ये नागोजिना निर्दिष्ट एव पाठ उपलभ्यते । एतत्सूत्रभाष्यप्रदीपस्तदुद्योतश्च द्रष्टव्यः । ३०

८. अत्रैतत्सूत्रभाष्यप्रदीपस्तदुद्योतश्चावलोकनीयः ।

९. अयं भावः—'ङेराम्नद्याम्नीभ्य इदुद्भ्याम्' इत्येकयोग आसीत् । तस्य

[अथाष्टमोऽध्यायः]

[८।१।६७] पूजनात् पूजितमनुदात्तम् —अत्र 'काष्ठादिभ्यः' इति प्रक्षिप्तम् ।[1]

[८।१।७४] नामन्त्रिते समानाधिकरणे, सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने—वृत्तौ तु 'सामान्यवचनम्' इत्यविधाय[2] उत्तरसूत्रे 'बहुवचनम्' इति प्रक्षिप्तम् ।[3]

[८।२।१८] कृपो रो लः—'क्लप' इत्यपपाठः ।[4]

[८।३।२७,२८,२९,३०,३१,३२ '[नपरे नः], ङ्स्सि धुट्, नश्च, शि तुक्, ङ्णोः कुक्टुक् शरि, ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' [इति क्रमः] ।[5]

[८।३।९८ इत्यनन्तरम्] 'एति संज्ञायामगात्' इति 'नक्षत्राद्वा' इति च गणसूत्रे प्रक्षिप्ते ।[6]

[८।३।११८] सदेः परस्य लिटि-'स्वञ्ज्योः' इति प्रक्षिप्तम् ।[7]

[८।४।१९] अनितेरन्तः—योगविभागो भाष्यकृतः ।[8]

[८।४।२८] 'उपसर्गाद् बहुलम्' इति भाष्यकृता भङ्क्तः ।[9]

भाष्यकृता योगविभागः कृतः । तेन 'ङेराम्नद्यांनीभ्यः, इदुद्भ्याम्, औदच्च घेः' इति सूत्रत्रयं निष्पन्नम् । 'औदच्च घेः' इत्यत्र योगविभागो भाष्कृता निराकृतः ।

१. इह भाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

२. अत्र 'सामान्यवचनमिति पूर्वसूत्रे विधाय' इति युक्तः पाठो द्रष्टव्यः ।

३. 'बहुवचनमिति वक्ष्यामि' इतिभाष्ये दर्शनात् ।

४. केनायमपपाठः स्वीकृत इति न ज्ञायते ।

५. अत्र भाष्येऽनेनैव क्रमेण सूत्राणामुपादानात् ।

६. सुषामादिगणे (८।३।९८) अनयोः सूत्रयोः पाठदर्शनात् ।

७. अत्रैव भाष्ये वार्तिकदर्शनात् ।

८. नैवात्र भाष्ये प्रत्यक्षं योगविभागो दर्शितः ।

९. भाष्ये तु 'उपसर्गादनोत्परः' इति सूत्रपाठमुपादाय 'अनोत्परः' इत्यंशे तत्पुरुषे बहुव्रीहौ चोभयथाऽपि दोषं प्रदर्श्य उक्तम् —'एवं तर्हि उपसर्गाद् बहुलमिति वक्तव्यम्' इति । ८।४।२८ ।

[८।४।५१ ५२,५३, ५४, ५५, ५६,५७,५८,५९,६०,६१,६२,६३ पाठक्रमः]—

[भाष्यपाठः]	[वृत्तिपाठः][1]
[५१] दीर्घादाचार्याणाम्।	५१. दीर्घादाचार्याणाम्।
[५२] अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।	५२. झलां जश् झशि।
[५३] वा पदान्तस्य।	५३. अभ्यासे चर्च।
[५४] तोर्लि।	५४. खरि च
[५५] उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य।	५५. वाऽवसाने।
[५६] झयो होऽन्यतरस्याम्।	५६ अणोऽप्रगृह्यस्याऽनुनासिकः।
[५७] शश्छोऽटि।	५७. अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः।
[५८] झलां जश् झशि।	५८. वा पदान्तस्य।
[५९] अभ्यासे चर्च।	५९. तोर्लि।
[६०] खरि च	६०. उदः स्थास्तम्भोःपूर्वस्य
[६१] वाऽवसाने।	६१. झयो होऽन्यतरस्याम्।
[६२] अणोऽप्रगृह्यस्याऽनुनासिकः।	६२. शश्छोऽटि।
[६३] हलो यमां यमि लोपः।	६३. हलो यमां यमि लोपः।

दीर्घादाचार्याणामित्यारभ्यान्यथा पाठो वृत्तौ।[2]

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

॥ इति नागोजिभट्टपर्यालोचितभाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठः समाप्तः ॥

त्रीणि सूत्रसहस्राणि नव सूत्रशतानि च।
चतुःषष्टिं च (३९६४) सूत्राणि कृतवान् पाणिनिः स्वयम् ॥

इतोऽग्रे हस्तलेखेऽयं पाठ उपलभ्यते—

संवत् १८८५ चैत्रासिते अष्टम्यां तिथौ त्रिवि (?)

—०—

१. अत्र वृत्तिपाठस्तु साक्षात् क्रमभेदपरिज्ञानायास्माभिरुद्धृतः।

२. भाष्येऽस्मिन् प्रकरणे 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य, शश्छोऽटि, अभ्यासे चर्च, झरो झरि सवर्णे' इत्येवं क्रमेण व्याख्यानात् नागोजिभट्टेनायं भाष्यसूत्रक्रम ऊहितः। उक्तं च तेनैव प्रदीपोद्योते (८।४।६१) 'भाष्येऽभ्यासे चर्च इत्यस्य परत्र पाठेन चर्त्वस्यैव परत्वेन तं प्रत्यस्यासिद्धत्वाभावादित्याहुः। वृत्त्युक्तः पाठस्तु चिन्त्य एव।

अष्टाध्यायी सम्बन्धी एक विशेष हस्तलेख

वाराणासेयविश्वविद्यालयस्य सरस्वतीभवने ३५७ संख्यायां निर्दिष्ट एकः सम्पूर्णाष्टाध्याय्या हस्तलेखो वर्तते । अस्मिन् हस्तलेखे ९३ पत्राणि सन्ति, बहुत्र नागोजिभट्टसम्मतः सूत्रपाठो दृश्यते । आदौ च ५ प्रत्याहारसूत्राणि 'माहेश्वराणि' इति पाठो न दृश्यते । ग्रन्थान्ते च सूत्रगणनेवं लिखिता उपलभ्यते—

भू१ पत्रि५ क्रिमि३, रष्ट८ दर्शन६ यमै २,
क्ष्मा१ वह्नि३ षड्भिः६, शरानेह३ षड्भिः ६ रिषुः ५,
स्मरायुध५ शरै५ पत्रि५, त्रि३ गौत्रै७ रपि दिङ्नाथा६,
१० ग्नि३ युगै४ र्गजा८, ग६ दहनैः३ रामः३,
पदश्च क्रमादध्याया नव९ नीभ७ नन्द९ दहनैः३,
सूत्राणि चाजीगणद् पुरुषोत्तमगिरिणा स्वपठनार्थं शुभम् ।

अत्र अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन प्रत्यध्यायं त्रिभिस्त्रिभिः पदै, सूत्रसंख्या निर्दशिता । तथाहि—

१५ प्रथमाध्याये ३५१	पञ्चमाध्याये ५५५
द्वितीयाध्याये २६८	षष्ठाध्याये ६७३
तृतीयाध्याये ६३१	सप्तमाध्याये ८४३
चतुर्थाध्याये ५६३	अष्टमाध्याये ३९७ ।

इयं सूत्रगणना काशिकावृत्त्यनुसारं वर्तते । तत्र १-२-३-५ २० अध्यायानां सूत्रगणना शुद्धा वर्तते । ४-६-७-८ अध्यायानां सूत्रगणनायां संख्यापदानां व्यत्यासात् सूत्रसंख्या अशुद्धा समपद्यत । अत्रैवं शुद्धा संख्या ज्ञेया—

अध्याय	अशुद्धा संख्या	शुद्धा संख्या	त्रयोऽप्यङ्का	अस्थाने
४	५६३	६३५	"	"
२५ ६	६७३	७३६	"	"
७	८४३	४३८	"	"
८	३९७	३७९	द्वितीयतृतीयावस्थाने	

अन्ते या कात्स्न्येंन संख्या निर्दशिता, सा ३९७९ सम्पद्यते । प्रत्यध्यायं या संख्या निर्दशिता तत्राशुद्धी शोधयित्वा योगः ३५१+२६८+ ३० ६३१+६३५+५५५+७३६+४३८+३७९=४०१० संजायते । तदेवं प्रत्यध्यायसंख्यायोगोऽन्ते लिखितश्च सर्वयोगः परस्परं विरुध्यतः ।

चौथा परिशिष्ट

अनन्तराम-पर्यालोचित भाष्यसम्मत सूत्रपाठ

इस ग्रन्थ के हस्तलेख की प्रतिलिपि भी श्री ओम्प्रकाशजी द्वारा ही हमें प्राप्त हुई थी। यह ग्रन्थ वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती-भवन में है। इसकी संख्या २०३९।८६ है। यह हस्तलेख एकपत्रात्मक अर्थात् दो पृष्ठों का है। इसमें कहीं-कहीं पर चिह्न देकर लेखक ने टिप्पणियां दी हैं। इस ग्रन्थ का लेखनकाल अज्ञात है। ५

इस लघु संकेतात्मक संग्रह में नागोजिभट्ट पर्यालोचित पाठ से कुछ भिन्नता वा वैशिष्ट्य है। यह दोनों पाठों की तुलना से व्यक्त होता है। १०

अनन्तराम-पर्यालोचित-भाष्यसम्मतः सूत्रपाठः

श्रीपाणिनिकात्यायनपतञ्जलिभ्यो नमः। ओम्।

उञः ऊँ[1] [१।१।१७]। समो गम्यृच्छिभ्याम् [१।३।२९]। प्रादय उपसर्गा≍क्रियायोगे [१।४।५८] ॥१॥

विभाषापपरि० [२।१।११] ॥२॥ १५

कृत्याः [३।१।९५]। आसुयुवपिरपित्रपिचमश्च [३।१।१२६]।[2] प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः [३।१।११८]। अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च [३।३।१२२] ॥३॥

टिड्ढाण—क्वरपः [४।१।१५]। ०कुसिदाना० [४।१।३७]। 'वृद्धस्य च पूजायाम्, यूनश्च कुत्सायाम्' इति द्वे वार्तिके [४।१।१६५ सूत्रानन्तरम्]। लाक्षारोचनाट्ठक् [४।२।२]। कलेर्ढक् इति वार्तिकम् [४।२।७ सूत्रानन्तरम्]। सास्मिन् पौर्णमासीति [४।२।२०]। ब्राह्मण—वाद्यन् [४।२।४१]। ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् [४।२।४२]। २०

---

१. कोष्ठान्तर्गतः पाठोऽस्मदीयः। २. अत्र सूत्रनिर्देशे पौर्वापर्यमभूत्।

संज्ञायां कुलाला० [४।३।११७,११८ एकं सूत्रम्]। कौपिञ्जलहस्ति-पदादण्, इति वार्तिकम् +[४।३।१३१ सूत्रानन्तरम्]।+आथर्वणि-कस्येकलोपश्च। विभाषा विव्रधात् [४।४।१७]। सगर्भ—द्यन् [४। ४।११४]। वेशोयशआदेर्भगाद्यल्खौ [४।४।१३१,१३२ एकं सूत्रम्] ॥४॥

दित्रिपूर्वादण् च इति वार्तिकम् [४।१।३५ सूत्रानन्तरम्]। तद-स्मिन् वृ—पदा दीयते[1] [५।१।४६]। ✠तदस्य परिमाणं संख्यायाः संज्ञासंघसू० [५।१।५६,५७ एकं सूत्रम्]।×तदर्हति छेदादि० [५। १।६२,६३ एकं सूत्रम्]। दण्डादिभ्यः[५।१।६४]। तस्य[2] दक्षि०[५।१। ६४]। प्रज्ञाश्रद्धार्चावृत्तिभ्यो[3] णः [५।२।१०१]। कृभ्वस्तियोगे संप० [५।४।५०] ॥५॥

ह्वः सम्प्रसारणमभ्य० [६।१।३२]। अपस्पृ—शीर्तः [६।१।३५]। अचि शीर्षः इति वार्तिकम् [६।१।६० सूत्रानन्तरम्]। दीर्घात् पदा-न्ताद्वा [६।१।७३]। नान्तःपादम्, प्रकृत्यान्तःपादम् इति पाठान्तरम् [६।१।१११]। इन्द्रे [६।१।१२०]। प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् [६।१।१२१]। अडभ्यासव्यवायेऽपि इति वार्तिकम् [६।१।१३१ सूत्रानन्तरम्]। संपरिभ्यां करो० [६।१।१३२]। विष्किरः शकुनौ

ग्रन्थकारकृताष्टिप्पण्यः—

+इदमपि वार्तिकमित्याहुः।[4] तन्न कैयटविरोधात्। तेन हि कौपिञ्जलेत्यस्यापाणिनीयत्वादत्र सूत्रेऽण उपसंख्यानमित्युक्तम्।

✠योगविभागस्तु अन्येभ्योऽपि[5] इति वार्तिकसंग्रहायार्वाचीनैः कृतः, न तु भाष्यारूढः। ×अत्र योगविभागः 'आर्हादगोपुच्छ' [५।१।१९] इति सूत्रभाष्ये स्पष्टः।

१. किमत्र प्रतिपाद्यमिष्यत इति न ज्ञायते।

२. तस्य च इति काशिकीयः पाठः, चकारोऽत्र नेष्यते।

३. अत्रैव 'वृत्तेश्च' इति वार्तिकदर्शनात् पाठोऽयं न भाष्यारूढः। द्र०—नागोजिपर्यालोचितः पाठः। यद्वात्र 'वृत्ति' पदं लेखकप्रमादात् पठितं स्यात्।

४. नागेशादयः। यद्यत्र नागेशस्यैव संकेतः स्यात् तर्ह्ययं ततोऽर्वाक्कालिक इति सुतरां सिद्धः।

५. एतत्सूत्रभाष्ये पठितस्यास्य संग्रहायेति भावः।

वा [६।१।१४५]। आश्चर्यमनित्ये[1] [६।१।१४२]। कारस्करो वृक्षः इति पारस्करादिस्थम्[2] [६।१।१५० सूत्रानन्तरम्]। तद्धितस्य कितः [६।१।१५८,१५९ एकं सूत्रम्]। उदराश्वेषुषु क्षेपे [६।२।१०७]। आत्मनश्च [६।३।६]। स्वाङ्गाच्चेतः [६।३।३९]। प्रकृत्याशिषि [६।३।८२]। ग्रन्थान्तेऽधिके[3] च [६।३।७९]। घसिभसोर्हलि [६।४।१००]। ल्यपि लघुपूर्वात्, पूर्वस्य इति पाठान्तरम् [६।४ ५६ ॥६॥ ५

ष्ठिवुक्लमुचमां शिति [७।३।७५]। इदुद्भ्यामौदच्च घेः [७।३। ११७,११८ एकं सूत्रम्] ॥७॥

पूजनात् पूजितमनुदात्तम् [८।१।६७]। नामन्त्रिते समानाधि- १० करणे, सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने [८।१।७३,७४]। कृपो रो लः [८।२।१८]। एति संज्ञायामगात्, नक्षत्राद्वा इति द्वे गणसूत्रे[4] [८।३।९९।१००]। सदेः परस्य लिटि [८।३।११८]। अनिरन्तः— [5]कार्ष्यख० [८।४।५]। अनितेरन्तः [८।४।१९]। उपसर्गादनोत्परः [८।४।२७]। दीर्घादा०, अनुस्वा०, वा पदान्तस्य, तोर्लि, उदस्था०, १५ झयो०, शश्छो०, झलां जश्झ०, अभ्यासे, वावसाने, अणोऽप्रगृह्य- स्यानु०, हलो यमां यमि लोपः [८।४।५१-६३ सूत्राणां क्रमभेदः]। अ अ [८।४।६७[॥८॥

॥ इत्यष्टाध्यायीसूत्राणि भाष्यसम्मतानि अतन्तरामपर्यालोचितानि ॥ २०

ग्रन्थकारकृताष्टिप्पण्यः—

: 'हलि च' इति पाणिनीयः पाठ इत्यत्रैव सूत्रे कैयटः।

---

१. अत्र क्रमभेदनिदर्शने तात्पर्यम्। — द्र०—नागोजिभट्टपर्यालोचितः सूत्रपाठः। २. पारस्करप्रभृतीनि [६।१।१५१] गणान्तर्गते एते सूत्रे।

३. अन्यत्र 'ग्रन्थान्ताधिके च' पाठः। २५

४. सुषामादि [८।३।९८] गणे पठिते सूत्रे।

५. किमस्य प्रयोजनमिति न ज्ञायते। कदाचित् 'कार्श्य' पाठं निराकर्तुमयं प्रयत्नः स्यात्।

पांचवां परिशिष्ट

मूल पाणिनीय-शिक्षा

हम इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ २५५-२५६ पर लिख चुके हैं कि पाणिनि ने एक '**सूत्रात्मिका शिक्षा**' का प्रवचन किया था। यहां ५ उसी के विषय में संक्षेप से वर्णन करके उसका मूलपाठ प्रकाशित करते हैं।

पाणिनीय शिक्षा के सम्प्रति दो प्रकार के पाठ मिलते हैं—एक सूत्रात्मक, और दूसरा श्लोकात्मक। सूत्रात्मक और श्लोकात्मक पाठ के भी लघु और वृद्ध दो-दो प्रकार के पाठ हैं।

१० आधुनिक पाणिनीय वैयाकरणों में पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही प्रसिद्ध है, और वैदिक भी वेदाङ्ग अन्तर्गत श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा का ही पाठ करते हैं। श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में ३५ श्लोक, और वृद्धपाठ में ६० श्लोक हैं। लघुपाठ याजुष पाठ कहाता है, और वृद्धपाठ ऋक्पाठ।

१५ सूत्रात्मक शिक्षा के भी लघु और वृद्ध दो पाठ हैं। श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वि० सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग से पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों का जो हस्तलेख प्राप्त किया था, वह पाठ लघुपाठ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त शिक्षासूत्र का हस्तलेख अन्त में त्रुटित था। अतः उसमें अष्टम प्रकरण का प्रथम सूत्र भी अपूर्ण ही २० है। मध्य में कहीं-कहीं पर लेखकप्रमाद से कुछ सूत्र छूटे हुए प्रतीत होते हैं। पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो पूर्ण पाठ हम छाप रहे हैं, वह वृद्धपाठ है। यह बात दोनों पाठों की तुलना से स्पष्ट हो जाती है।

मूल-पाठ--पाणिनीय शिक्षा के श्लोकात्मक और सूत्रात्मक जो दो प्रकार के पाठ मिलते है, उनमें पाणिनि-प्रोक्त मूलपाठ कौन सा है, २५ इसका अति संक्षिप्त विवेचन किया जाता है—

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का प्रथम श्लोक है—

'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा ।'

इस वचन से स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं है। वह तो किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पाणिनीय मत के अनुसार बनाई गई है। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के प्रकाश-नाम्नी टीका के रचयिता के मत में इसका प्रवक्ता पाणिनि का अनुज आचार्य पिङ्गल है।[1] इस प्रकार ग्रन्थ के अन्तःसाक्ष्य और टीकाकार के साक्ष्य से सर्वथा स्पष्ट है कि श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा चाहे, उसका लघु याजुष पाठ हो, चाहे वृद्ध आर्च पाठ, दोनों ही मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं हैं। श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा का पाणिनि प्रोक्त मूल ग्रन्थ इनसे भिन्न है। हमारा मत है कि पाणिनीय श्लोका-त्मिका शिक्षा का आधार पाणिनीय सूत्रात्मिका शिक्षा है।[2]

श्लोकात्मिका पाणिनीय शिक्षा के पठन-पाठन में अधिक प्रयुक्त होने के कारण सूत्रात्मक पाठ लुप्त हो गया, हस्तलेख भी अप्राप्य हो गए। श्लोकात्मिका शिक्षा मूलतः पाणिनि-प्रोक्त नहीं है, इस तथ्य की ओर सबसे पूर्व इस युग में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का ध्यान गया। उन्होंने मूलभूत पाणिनीय शिक्षा की प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न किया। अन्ततः वि० सं० १९३६ के मध्य में प्रयाग के एक ब्राह्मण के गृह से पाणिनीय शिक्षा-सूत्र का एक हस्तलेख प्राप्त किया। यद्यपि वह हस्तलेख भी अधूरा था, अन्त के एक या दो पत्र नष्ट हो चुके थे, पुनरपि स्वामी दयानन्द की यह उपलब्धि शिक्षाशास्त्र के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण थी। उन्होंने उपलब्ध शिक्षासूत्रों का आर्य-भाषा व्याख्या सहित वि० सं० १९३६ के अन्त में **वर्णोच्चारणशिक्षा** के नाम से प्रकाशित किया।[3]

---

१. ज्येष्ठभ्रातृविहितो व्याकरणेऽनुजस्तत्र भवान् पिङ्गलाचार्यः तन्मत मनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते—अथ शिक्षामिति।

२. आपिशल शिक्षा का भी एक श्लोकात्मक पाठ है। उसका आरम्भ का वचन है—**अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि मतमापिशलेर्मुनेः।**

इस श्लोकात्मिका शिक्षा के १९ सूत्र उपलब्ध हुये थे। इन्हें भी डा० रघुवीर जी ने आपिशल शिक्षासूत्रों के पश्चात् छापा था।

३. इस विषय में जो अधिक जानना चाहें, वे हमारे 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में देखें।

श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त हुए शिक्षासूत्रों का दूसरा हस्तलेख चिरकाल तक विद्वानों को उपलब्ध नहीं हुआ। इस कारण श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व में विद्वानों को शङ्का बनी ही रही। दैवयोग से श्री डा० रघुवीर-
५ जी को अडियार (मद्रास) के पुस्तकालय से आपिशल शिक्षासूत्रों के दो हस्तलेख उपलब्ध हो गए। उन्होंने उनके साथ स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों की तुलना करके स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के पाणिनीयत्व की स्थापना की। इस विषय में उन्होंने कुछ लेख भी लिखे।

१० इसके पश्चात् सन् १९३८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से मनो-मोहन घोष एम० ए० सम्पादित **'पाणिनीय शिक्षा'** नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसकी बृहद् भूमिका में मनोमोहन घोष ने सारा प्रयत्न इस बात की सिद्धि के लिए लगाया कि पाणिनीय शिक्षा का श्लोकात्मक पाठ ही पाणिनि द्वारा प्रोक्त है, स्वामी दयानन्द
१५ सरस्वती द्वारा प्रकाशित सूत्रपाठ पाणिनीय नहीं है। इस प्रसंग में आपने डा० रघुवीर के लेख की आलोचना के साथ-साथ सूत्रात्मक पाठ की दयानन्द द्वारा कल्पित पाठ सिद्ध करने की भरपूर चेष्टा की।

मनोमोहन घोष के उक्त भूमिकास्थ लेख की विस्तृत आलोचना हमने **मूल पाणिनीय शिक्षा** इस शीर्षक से पटना की 'साहित्य' नाम्नी
२० पत्रिका के सन् १९५९ अङ्क १ में प्रकाशित की। उसमें मनोमोहन घोष के सभी हेत्वाभासों का सप्रमाण निराकरण किया, और श्लोका-त्मिका शिक्षा को पाणिनीय मानने पर अष्टाध्यायी से जो विरोध आते हैं, उनका उल्लेख करके सूत्रात्मक पाठ का पाणिनीयत्व सिद्ध किया। जो पाठक इस विषय में विशेष रुचि रखते हैं, वे हमारा उक्त
२५ लेख अवश्य पढ़ें।

आपिशल[1] और पाणिनीय शिक्षा

पाणिनीय शिक्षा के सूत्र आपिशल शिक्षा के सूत्रों के साथ बहुत साम्य रखते हैं। अतः आपिशल शिक्षासूत्रों की उपलब्धि पर यह

---

१. आपिशल शिक्षा के लिए देखिए हमारे द्वारा सम्पादित **शिक्षा सूत्राणि'**
३० संग्रह। इसमें चान्द्रशिक्षा का पाठ भी छापा है।

विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया कि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय हैं, अथवा आपिशल। दोनों के सूत्रपाठों की तुलना से इतना तो स्पष्ट है कि दोनों का पाठ प्रायः समान है। परन्तु जहां परस्पर में वैषम्य है, वह प्रवक्तृ-भेद के कारण है, अथवा पाठान्तरमूलक है। यद्यपि कुछ वैषम्य पाठान्तरमूलक कहे जा सकते हैं, पुनरपि कुछ पाठ ऐसे अवश्य हैं, जो प्रवक्तृभेद के कारण ही हैं। यथा—

आपिशल पाठ	पाणिनीय पाठ
ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।	**ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।**
	विवृतकरणा वा।
विवृतकरणाः स्वराः।	**विवृतकरणाः स्वराः।**

पाणिनीय पाठ में ऊष्म वर्णों का पक्षान्तर में विवृतकरण प्रयत्न कहा है, वह आपिशल पाठ में नहीं है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में एक सूत्र है—**नाज्झलौ** (१।१।१०)। इस सूत्र द्वारा पूर्व **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** (१।१।६) सूत्र से प्राप्त अचों और हलों की (अ इ ऋ लृ की क्रमशः ह श ष स के साथ) सवर्ण संज्ञा का निषेध किया है। उक्त हलों और अचों की सवर्ण संज्ञा तभी हो सकती है, यदि स्वरों और ऊष्मों के आभ्यन्तर प्रयत्न समान हों। दोनों के आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता **विवृतकरणा वा** इस पाणिनीय सूत्र से ही सिद्ध है। आपिशल शिक्षा में उक्त सूत्र न होने से अज्झलों की सवर्ण संज्ञा ही प्राप्त नहीं होती।

इसके अतिरिक्त दोनों शिक्षासूत्रों के निम्न पाठ भी द्रष्टव्य हैं—

आपिशल पाठ	पाणिनीय (लघु) पाठ
ञमङणनाः स्वस्थाना नासिकास्थानाः (१।१६)।	**ङञणनमाः स्वस्थान-नासिकास्थानाः** (१।२१)।
स्पर्शयमवर्णकारो ······ (५।१)।	**स्पर्शवर्णकरो** ।
अन्तस्थवर्णकारो ······ (५।२)।	**अन्तस्थवर्णकरो** ·········।
ऊष्मस्वरवर्णकारो ······ (५।३)।	**ऊष्मस्वरवर्णकरो** ······।

इनमें से प्रथम उद्धरण में 'ञमङणनाः' निर्देश उणादि **ञमन्ताड्डः** (१।११४) सूत्र में प्रयुक्त ञम् प्रत्याहार के अनुरूप **ञमङणनम्** प्रत्याहारसूत्रानुसारी है। हमने अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास'

में सप्रमाण दर्शाया है कि पञ्चपादी उणादि आपिशलि-प्रोक्त है, और उसमें प्रयुक्त '**ञम्**' प्रत्याहार की दृष्टि से प्रत्याहारसूत्र में निर्दिष्ट **ञमङणन** क्रम आपिशलि द्वारा उपज्ञात है, और यही क्रम उसके शिक्षासूत्र में भी है। पाणिनीय सूत्र में **वर्गक्रम** से पाठ है।

५ अगले उद्धरणों में **कार और कर** का भेद है।[1] पाणिनीय **कर** पाठ पाणिनि के **कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु** (३।२।२०) सूत्र के अनुसार है। **कार** पाठ में औत्सर्गिक **अण्** की कल्पना करनी पड़ती है।[2]

इन भेदों के अतिरिक्त पाणिनीय शिक्षा में आपिशल शिक्षा की १० अपेक्षा निम्न सूत्र अधिक हैं—

कण्ठ्यान् आस्यमात्रान् इत्येके ।१।७।।

दन्तमूलस्तु तवर्गः ।१।११।।

विवृतकरणा वा ।३।८।।

तीन सूत्रों का आधिक्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा १५ प्रकाशित, लघुपाठ से दर्शाया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि उक्त हस्त-लेख में मध्य-मध्य में लेखकप्रमाद से कुछ सूत्र नष्ट हुए हैं। इनके अतिरिक्त सप्तम प्रकरण में चार सूत्र ऐसे हैं, जो आपिशलीय शिक्षा में नहीं हैं (हमारे द्वारा प्रकाशित वृद्ध पाठ में भी नहीं हैं)। वृद्धपाठ में तो उक्त तीन सूत्रों के अतिरिक्त ७-८ सूत्र और ऐसे हैं, जो आपि-२० शल शिक्षा में नहीं हैं।

इस संक्षिप्त विवेचना से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्र पाणिनीय ही हैं।

अब हम एक ऐसा प्रमाण भी उपस्थित करते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि ये सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा पाणिनि के नाम से स्मृत २५ भी हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य की '**त्रिरत्नभाष्य**' नामक व्याख्या का रचयिता **सोमयार्य** लिखता है—

'**सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति इति पाणिनीयेऽपि**'। मैसूर संस्क०, पृष्ठ ४५०।

इस प्रमाण की उपस्थिति में पाणिनीय शिक्षा-सूत्रों के सम्बन्ध

---

३० १. पाणिनि के शिक्षासूत्र के वृद्ध पाठ में '**कार**' पाठ मिलता है।

२. यही कल्पना पाणिनीय शिक्षा के वृद्ध पाठ 'कार' में भी करनी होगी।

में कोई विवाद उठ ही नहीं सकता। अब हम उसके वृद्धपाठ के विषय में लिखते हैं।

पाणिनीय शिक्षासूत्र का वृद्धपाठ—पाणिनीय शिक्षासूत्रों का जो वृद्धपाठ हम इस संस्करण में प्रकाशित कर रहे हैं, उसकी उपलब्धि की कथा भी विचित्र है। वह इस प्रकार है— ५

सन् १९३९ में 'दि इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता से 'आपिशली शिक्षा' नाम से एक शिक्षा प्रकाशित हुई। पुस्तक के मुख पृष्ठ पर 'अध्यापक अमूल्यचरण विद्याभूषण कर्तृक सम्पादित और अनूदित' शब्द छपे हुए हैं। इसमें बंगला अनुवाद तो अवश्य है, परन्तु सम्पादन के नाम पर किया जानेवाला कोई भी प्रयत्न इसमें नहीं है। १० हां, तीन स्थानों पर कोष्ठक में प्रश्नचिह्न (?) अवश्य उपलब्ध होते हैं। अस्तु, हमारे लिए तो यह प्रयत्नाभाव भी वरदान-रूप सिद्ध हुआ। उक्त ग्रन्थ को देखने से विदित होता है कि मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध हस्तलेख की अक्षरशः प्रतिलिपिमात्र है, और वह लेखकप्रमाद से बहुत भ्रष्ट हो गया है। पाठ स्थान-स्थान पर खण्डित और आगे- १५ पीछे हो रहा है।

हमारी दृष्टि में यह ग्रन्थ सन् १९५३ में आया था। इस पर **'आपिशली शिक्षा'** नाम छपा होने से चिरकाल तक हमने इस पर ध्यान नहीं दिया। एक दिन विचार उत्पन्न हुआ क इसको आपिशल शित्रा-सूत्र से मिलाया जाय। तब हमने सन् १९४९ में स्वयं मुद्रा- २० पित आपिशल शिक्षासूत्रों से मिलान करना आरम्भ किया। उस तुलना में **ङञणनमा नासिकास्थानाः** पाठ ने हमारा ध्यान विशेषरूप से आकृष्ट किया, क्योंकि यह वर्णानुक्रम पाणिनीय शिक्षा-सूत्र में है। आपिशल शिक्षा में **ञमङणनाः** पाठ है। इसके पश्चात् तृतीय प्रकरण के **विवृतकरणा वा** सूत्र ने यह बोध कराया कि सम्भव है यह शिक्षा २५ पाणिनीय ही हो, आपिशल शिक्षा न हो। इस दृष्टि से सम्पूर्ण सूत्रों की तुलना स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित शिक्षासूत्रों के साथ की, तब यह निश्चय हो गया कि जहां-जहां भी अमूल्यचरण विद्याभूषण द्वारा प्रकाशित शिक्षा का पाठ आपिशल शिक्षा से भिन्न है, वहां-वहां वह सर्वत्र स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित ३० शिक्षासूत्रों से मिलता है। इस तुलना से इतना निश्चय हो गया कि यह पाठ पाणिनीय शिक्षा का ही है, आपिशल शिक्षा का नहीं।

इस पर विचार उत्पन्न हुआ कि श्री अमूल्यचरणजी ने इस ग्रन्थ के ऊपर **आपिशली शिक्षा** शीर्षक किस आधार पर छापा ? इसके लिए हमने उनकी भूमिका पढ़ी । उसमें उन्होंने इस हस्तलेख के सम्बन्ध में कहीं पर भी नहीं लिखा कि कोश के आदि वा अन्त में ५ 'आपिशली शिक्षा' नाम का उल्लेख है । प्रतीत होता है कि श्री अमूल्य चरणजी ने अष्टम प्रकरण के—

स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति ॥८॥

सूत्र में आपिशलि नाम देखकर ग्रन्थ के आद्यन्त में 'आपिशली शिक्षा' का नाम जोड़ दिया ।

१० अमूल्यचरणजी द्वारा प्रकाशित पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है । केवल उसी के आधार पर उस ग्रन्थ का सम्पादन कठिन है । सम्भवतः इसी कारण अमूल्यचरणजी ने हस्तलेख के अनुरूप ही उसे यथातथरूप में छाप दिया । इससे यह भी प्रतीत होता है कि उन्हें डा० रघुवीरजी द्वारा प्रकाशित 'आपिशल शिक्षा,' और स्वामी दयानन्द सरस्वती १५ द्वारा प्रकाशित 'पाणिनीय शिक्षा' का ज्ञान नहीं था, अन्यथा वे उनकी सहायता से ग्रन्थ का अच्छा सम्पादन कर सकते थे ।

हमने उक्त दोनों शिक्षासूत्रों के आधार पर, तथा विविध ग्रन्थों में उद्धृत सूत्रों के साहाय्य से इस अमूल्य निधि का सम्पादन किया हैं । जब हमने इस ग्रन्थ के पाठ का सम्पादन कर लिया, तब इस पाठ २० और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित पाठ की तुलना से विदित हुआ कि हमारे द्वारा सम्पादित शिक्षा-पाठ वृद्धपाठ है, और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित लघुपाठ हैं । अनेक प्राचीन ग्रन्थों के वृद्ध और लघु पाठ उपलब्ध होते हैं । पाणिनि के सूत्रपाठ धातुपाठ गणपाठ उणादिपाठ सभी के लघुपाठ और वृद्ध पाठ हैं ।[1] २५ इसी प्रकार उसकी सूत्रात्मिका शिक्षा के भी वृद्ध और लघु पाठ हों, तो आश्चर्य ही क्या है । प्राचीन परम्परा के अनुसार वृद्ध और लघु दोनों प्रकार के पाठ एक ही आचार्य द्वारा विभिन्न प्रकार से प्रवचन[2] के कारण उत्पन्न हुए हैं ।

---

१. इन पाठों के विषय में हमारे 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास ३० के तत्तत् प्रकरण देखिए । २. प्राचीन आचार्य शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा नहीं करते थे, अपितु पढ़ाया करते थे, अतः वे प्रोक्त कहाते थे ।

अब हम पाणिनीय शिक्षा के दोनों पाठों की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं—

लघु-पाठ	वृद्ध-पाठ	
[वर्णास्] त्रिषष्टिः	स्थानकरणप्रयत्नेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः । ४ ।	५
	चतुःषष्टिरित्येके । ५ ।	
	[इति] संयुक्ता वर्णाः ।१।२४।।	
आभ्यन्तरस्तावत्	स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत्।३।४।।	
	तेभ्य ए ओ विवृततरौ । ३।९।।	
	ताभ्यामै औ । ३।१०।।	१०
	ताभ्यामाकारः । ३।११।।	
	कादयो मावसानाः स्पर्शाः ।४।८।।	
	यादयोऽन्तस्थाः । ४।९ ।।	
अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ।	एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति— अष्टादश-प्रभेदमवर्णकुलमिति । तत्कथमुक्तम्—ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च । आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः । ६।१२ ।।	१५
	उत्साहः प्रयत्नः । ७।६ ।।	२०
	स्पृष्टतादिर्वर्णगुणः । ७।७ ।।	

इन उद्धरणों के विपरीत लघुपाठ में कुछ ऐसे पाठ भी हैं, जो वृद्धपाठ में लघुरूप में हैं, अथवा नहीं हैं । यथा—

लघुपाठ	वृद्धपाठ	
द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ।	द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि	२५

सप्तम प्रकरण के निम्न २-५ सूत्र वृद्धपाठ में नहीं हैं—
तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः—

सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः ।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ।। ३०

ᳵकᳵपयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः ।
पलक्क्नी चक्ल्नतुर्जंग्मिर्जंग्नुरित्यत्र यद् वपुः ॥
नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमेऽयमाः ।
तेषामुकारः संस्थानवर्गीयलक्षकः ॥

लघु पाठ में सर्वत्र आवश्यक नहीं कि उस पाठ में वृद्धपाठ की अपेक्षा लघुत्व ही हो। समूहावलम्बन से लघुत्व और वृद्धत्व देखा जाता है। लघुपाठ के सप्तम प्रकरण के जो सूत्र उद्धृत किए हैं, उन के विषय में यह भी सम्भावना हो सकती है कि लघुपाठ के किसी हस्तलेख में ये श्लोक किसी पाठक ने ग्रन्थान्तर से ग्रन्थ के प्रान्त (हाशिये) पर लिखे हों, और उत्तरकाल के प्रतिलिपिकर्त्ता ने उन्हें छूटा हुआ पाठ मानकर मूल में सन्निविष्ट कर दिया हो।

अतः जब तक लघुपाठ का अन्य हस्तलेख उपलब्ध न हो जाए, कुछ समस्याएं बनी ही रहेंगी।

अथ पाणिनीयशिक्षा

वृद्ध-पाठः

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात्
समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो
वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ॥

२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं
गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः ।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव
सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति ॥

३. स्थानमिदं करणमिदं
प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः ।
स्थानं पीडयति, वृत्तिकारः
प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात् ॥

४. स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो
वर्णास्त्रिषष्टिः ।

५. चतुःषष्टिरित्येके ।[1]

६. तत्र वर्णानां केषां किं स्थानं
किं करणं प्रयत्नश्च ते, द्विधा
विभजते (?) ।

लघु-पाठः

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात्
समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः ।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो ५
वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः ।

२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं
गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः ।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव
सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति ॥ १०

३. [वर्णास्] त्रिषष्टिः ।

४. स्थानमिदं करणमिदं
प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः ।
स्थानं पीडयति, वृत्तिकारः
प्रक्रम एषोऽथ नाभितलात् ॥ १५

२०

१—स्थान-प्रकरणम्

वृद्ध-पाठः

१. तत्र स्थानं तावत् ।

२. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ।[2]

लघु-पाठः

१. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ।

---

१. तुलना कार्या— त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते स्थिताः (मताः) इत्यर्वाचीनायां पाणिनीयशिक्षानाम्ना प्रसिद्धायां शिक्षायाम् । २५

२. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सूत्र ५, पृष्ठ २२; १।१।६, पृष्ठ ५८), पदमञ्जर्यां (१।१।६, पृष्ठ ५८) च ।

वृद्ध-पाठः	लघु-पाठः ।
३. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।	२. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् ।
४. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ।	३. जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ।
५. कवर्गाविर्णानुस्वारजिह्वा-मूलीया जिह्व्या एकेषाम्]।	४. कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्व्यः ।
६. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ।[1]	५. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ।
७. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ।	६. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ।
८. इचुयशास्तालव्याः ।[2]	७. इचुयशास्तालव्याः ।
९. ऋटुरषा मूर्धन्याः ।[3]	८. ऋटुरषा मूर्धन्याः ।
१०. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम ।	९. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् ।
११. दन्तमूलस्तु तवर्गः ।	१०. दन्तमूलस्तु तवर्गः ।
१२. लृतुलसा दन्त्याः ।[4]	११. लृतुलसा दन्त्याः ।
१३. वकारो दन्त्योष्ठ्यः ।	१२. वकारो दन्त्योष्ठ्यः ।
१४. सृक्किणीस्थानमेकेषाम् ।	१३. सृक्किणीस्थानमेकेषाम् ।
१५. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ।[5]	१४. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ।
१६. अनुस्वारयमा नासिक्याः ।[6]	१५. अनुस्वारयमा नासिक्याः ।
१७. कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके ।	१६. कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके ।
१८. यमाश्च नासिक्यजिह्वा-मूलीया एकेषाम् ।	१७. यमाश्च नासिक्यजिह्वा-मूलीया एकेषाम् ।
१९. ए ऐ कण्ठतालव्यौ ।[7]	१८. एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ ।

१. तुलना कार्या—सर्वमुखस्थानमवर्णमेके इच्छन्ति । महाभाष्य १।१।९॥

२. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सूत्र ५, पृष्ठ २२; १।१।९, पृष्ठ ५८); पदमञ्जर्यां (१।१।९ पृष्ठ ५८); न्यायमञ्जर्यां (पृष्ठ २०५) च ।

३. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सू० ५ पृष्ठ २०, २२; १।१।९, पृष्ठ ५८) पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

४. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २२; १।१।९, पृष्ठ ५८); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

५. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २२; १।१।९, पृष्ठ ५८); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) ।

६. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २५; १।१।९, पृष्ठ ५९) ।

७. उद्धृतं न्यासे (१।२।९, पृष्ठ ५८; १।१।४८, पृष्ठ ९२); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
२०. ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ ।[1]	१९. ओदौतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ ।
२१. ङञणनमाः स्वस्थाननासिका-स्थानाः ।	२०. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ।
२२. द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि ।	२१. द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ।
२३. सरेफ ऋवर्णः ।[2]	२२. सरेफ ऋवर्णः ।
२४. [इति] संयुक्ताः वर्णाः ।	
२५. एवमेतानि स्थानानि ।	

५

२—करण-प्रकरणम्

१०

१. करणमपि ।	
२. जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ।	१. जिह्व्यतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ।
३. जिह्वामूलेन जिह्व्यानाम् ।	२. जिह्वामूलेन जिह्व्यानाम् ।
४. जिह्वामध्येन तालव्यानाम् ।	३. जिह्वामध्येन तालव्यानाम् ।
५. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् ।	४. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम् ।
६. जिह्वाग्राधः करणं वा ।	५. जिह्वाग्राधः करणं वा ।
७. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ।	६. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ।
८. शेषाः स्वस्थानकरणाः ।	
९. इत्येतत् करणम् ।	७. इत्येतदन्तःकरणम् ।

१५

२०

३ — अन्तःप्रयत्न-प्रकरणम्

१. प्रयत्नोऽपि द्विविधः ।	१. प्रयत्नोऽपि द्विविधः ।
२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च ।	२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च ।
३. स्वस्थाने आभ्यन्तरस्तावत् ।	३. आभ्यन्तरस्तावत् ।

---

१. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २०; १।१।९, पृष्ठ ५८; १।१।४८, पृष्ठ १२); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

२५

२. द्र०—येषां दर्शनमर्धमात्रा कालो रेफ ऋकारेऽस्तीति तन्मतेन······। येषामपि दर्शनं मात्राचतुर्थभागो रेफ ऋकार इति·········। महाभाष्यप्रदीपे ८।४।१ कैयटः । अत्रापिशलशिक्षायामस्मिन् सूत्रे निर्दिष्टा टिप्पण्यपि द्रष्टव्या ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ।[1]	४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ।
५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः ।[2]	५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः ।
६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ।	६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ।
७. विवृतकरणा वा ।	७. विवृतकरणा वा ।
८. विवृतकरणाः स्वराः ।[3]	८. विवृतकरणाः स्वराः ।
९. तेभ्य ए ओ विवृततरौ ।[4]	
१०. ताभ्यामै औ ।[5]	
११. ताभ्यामकारः ।[6]	
१२. संवृतस्त्वकारः ।[7]	९. संवृतस्त्वकारः ।
१३. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः ।	१०. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः ।

४—बाह्यप्रयत्न-प्रकरणम्

१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः ।	१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः ।
२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः ।[8]	२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदानाश्चाघोषाः ।

---

१. उद्धृतं न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५९); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च ।

२. उद्धृत न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५९) पदमञ्जर्यां; (१।१।९, पृष्ठ ५७) च ।

३. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० सूत्र १, पृष्ठ ८) पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च ।

४. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० १, पृष्ठ ८) पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च ।

५. उद्धृतं पदमञ्जर्याम् (प्रत्या० १, पृष्ठ १८); न्यासे तु 'ताभ्यामपि ऐ औ' इत्येवं पाठः ।

६. 'ताभ्यामप्याकारः' इत्येवं न्यासे (प्रत्या० १; पृष्ठ ८); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च पाठः ।

७. संवृतोऽकारः, इत्येवं न्यासे (प्रत्या० १, पृष्ठ ८); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० १, पृष्ठ १८) च पाठः ।

८. उद्धृतं न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७; १।१।५०, पृष्ठ ८५); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
३. वर्गयमानां प्रथमा अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः ।[1]	३. एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः ।
४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीय चतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ।[2]	४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुथ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ।
५. वर्गयमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः ।[3]	५. [एकेऽन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः] ।
६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ।	६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ।
७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ।[4]	७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ।
८. कादयो मावसानाः स्पर्शाः ।[5]	
९. यादयोऽन्तस्थाः ।[6]	
१०. शादय उष्माणः ।[7]	८. शादय उष्माणः ।

१. 'वर्गयमानां प्रथमे प्रथमेऽल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः' इत्येवं पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७); न्यासे ('वर्ग्ययमानां' पाठा० १।१।९, पृष्ठ ५७) च पठ्यते ।

२. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २५; १।१।९, पृष्ठ ५७; १।१।५०, पृष्ठ ८५) पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च । पदमञ्जर्यां न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७); उद्धरणे 'नासिक्याश्च' पदं नास्ति) ।

३. उद्धृतं न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७; १।१।५०, पृष्ठ ९५—पूर्वोद्धरणे 'वर्ग्य' पाठः); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८—'सर्वे' पदं नास्ति) च ।

४. उद्धृतं न्यासे (प्रत्या० ५, पृष्ठ २५; १।१।९, पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

५. उद्धृतं न्यासे (१।१।९ पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५८) च ।

६. उद्धृतं न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च ।

७. न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च 'यरलवा अन्तस्थाः' इत्येवं पठ्यते, सोऽर्थतोऽनुवादो द्रष्टव्यः ।

८. उद्धृतं न्यासे (१।१।५० पृष्ठ ९६); पदमञ्जर्यां (१।१।५०, पृष्ठ ९७) च । यत्तु न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५७); पदमञ्जर्यां (१।१।९, पृष्ठ ५७) च । 'शषसहा ऊष्माणः' इत्येवं पाठ उपलभ्यते, सोऽर्थतोऽनुवादो द्रष्टव्यः ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
११. सस्थानेन द्वितीयाः ।	९. [स] स्थानेन द्वितीयाः ।
१२. हकारेण चतुर्थाः ।[२]	१०. हकारेण चतुर्थाः ।
१३. इत्येष बाह्यः प्रयत्नः ।	

५

५—स्थानपीडन-प्रकरणम्

१. तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभिपीडयति ।	१. तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभिपीडयति ।
२. अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत् ।	२. अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवत् ।
३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत् ।	३. ऊष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवत् ।
	४. उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः ।

१०

६—वृत्तिकार-प्रकरणम्

१५

१. एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति—अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति । तत्कथमुक्तम ?	
२. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च । आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ॥इति।	१. अवर्णो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन चानुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः ।
३. एवमिवर्णादयः ।	२. एवमिवर्णादयः ।
४. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ।[३]	३. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ।
५. तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते ।[४]	४. तं द्वादशभेदमाचक्षते ।

२०

२५

१. उद्धृतं न्यासे (१।१।५०, पृष्ठ ९६, ९७); पदमञ्जर्यां (१।१।५० पृष्ठ ९७) च ।

२. उद्धृतं न्यासे (१।१।५०, पृष्ठ ९६, ९७); पदमञ्जर्यां (१।१।५०, पृष्ठ ९७) च ।

३. उद्धृतं काशिकायाम् (१।१।९) । ४. उद्धृतं काशिकायाम् (१।१।९) ।

वृद्धपाठः	लघुपाठः
६. यदृच्छाशब्देऽशक्तिचानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टदशप्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति।	५. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टादशभेदं ब्रुवते कलृपक इति।
७. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति।[1]	६. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति।
८. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।[2]	७. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।
९. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं [च] पठन्ति।[3]	
१०. तेषामष्टादश प्रभेदानि।	
११. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।[4]	८. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।
१२. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।[5]	९. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।
१३. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः।[6]	१०. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः।

७—प्रक्रम-प्रकरणम्

१. एष क्रमो वर्णानाम्।	१. एष क्रमो वर्णानाम्।
२. तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां कथं प्रसिद्धिरित्युच्यते।	२. तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः।

---

१. उद्धृतं काशिकायाम् (१।१।९)। 'पाणिनीयेऽपि' इत्येवं कृत्वोद्धृतः। तैत्तिरीयप्रतिशाख्यस्य त्रिरत्नभाष्ये (मैसूर सं० पृ० ४५०)।

२. उद्धृतं काशिकायाम् (१।१।९)।

३. तुलना कार्या—ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते इति। महाभाष्ये प्रत्या० ३; १।१।४७ सूत्रे च।

४. स्वल्पपाठान्तरेणोद्धृतं काशिकायाम् (१।१।९); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० ६, पृष्ठ ३३) च।

५. उद्धृतं महाभाष्ये (प्रत्या० ५); काशिकायां (१।१।९); पदमञ्जर्यां (प्रत्या० ५); न्यासे (प्रत्या० ५) च।

६. उद्धृतं महाभाष्यदीपिकायां (पृष्ठ १८४ हस्त०) काशिकायां (१।१।९) च

वृद्धपाठः

३. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम् ।

४. येन निर्वर्त्यन्ते तत् करणम् ।

५. प्रयतनं प्रयत्नः ।[1]

६. [1]उत्साह प्रयत्नः ।

७. स्पृष्टतादि वर्गगुणः ।

लघुपाठः

३. सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद्
विसर्गादिरिहाष्टकः ।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥

४. ᳵकᳶपयोः कपकारौ च
तद्वर्गीयाश्रयत्वतः ।
पलिक्क्नी चख्ख्नतुर्जग्गिमजघ्घ्नुरित्यत्र यद्वपुः ॥

५. नासिक्येनोक्तं कादीनां
त इमेऽयमाः ।
तेषामुकारः संस्थान वर्गीय
लक्षकः ।

६. उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः ।

७. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम् ।

८. येन निर्वर्त्यन्ते तत् करणम् ।

९. प्रयतनं प्रयत्नः ।

८—नाभितल-प्रकरणम्

वृद्धपाठः

१. [2]तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो[3] नाभिवायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने

लघुपाठः

१. तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने

---

१. उद्धृतं महाभाष्ये (१।१।९) ।

२. न्यासे (१।१।९, पृष्ठ ५६, ५७) अस्य प्रकरणस्य १-२३ सूत्राण्युद्धृतानि ।

३. प्राणो नाम ऊर्ध्वमाक्रमन्नुरःप्रभृतीनामन्यतस्मिन्—न्यासे । द्रष्टव्यमत्रास्यैव प्रकरणस्याष्टमे चतुर्दशे च सूत्रे नाभिपदम् । लघुपाठे तु 'प्राणो नाम' इत्येव पठ्यते ।

बृद्धपाठः	लघुपाठ
प्रयत्नेन विधार्यते। विधार्यमाणः सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति[1]। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः।	प्रयत्नेन विधार्यते। [इति अग्रे ग्रन्थपातः] **[इति पाणिनीयशिक्षासूत्राणां लघुपाठः॥]**

२. तत्र वर्णानामुत्पद्यमाने[2] यदा स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तं परस्परं स्पृशति[3] सा स्पृष्टता।

३. यदेषत् स्पृशति[4] सा ईषत्स्पृष्टता।

४. यदा दूरेण स्पृशति[5] सा विवृता[6]॥

५. यदा सामीप्येन स्पृशति[7] सा संवृता।[8]

६. एषोऽन्तः प्रयत्नः।[9]

७. अथ बाह्यः प्रयत्नः।[9]

८. स एवेदानीं प्राणो नाभिवायुरू[10]र्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते[11] निवृत्तः तदा कोष्ठे संहन्यमाने[12] गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते[13], विवृतत्वाद् विवारः।

९. तौ संवारविवारौ।[14]

---

१. स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति। ततः— न्यासे।

२. वर्णध्वनावुत्पद्यमाने—न्यासे।

३. ० प्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति न्यासे।

४. ईषद् यदा स्पृशन्ति—न्यासे।

५. दूरेण यदा स्पृशन्ति—न्यासे। न्यासे तु चतुर्थपञ्चमसूत्रयोः पौर्वापर्यं विद्यते। ६. द्रष्टव्यमत्रास्यैव प्रकरणम् २६ षड्विंशं सूत्रम्।

७. सामीप्येन यदा स्पृशन्ति—न्यासे।

८. द्रष्टव्यमत्रास्यैव प्रकरणम् २६ षड्विंशं सूत्रम्।

९. नास्ति सूत्रम्—न्यासे।

१०. स एव प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्—न्यासे।

११. प्रतिहतो० —न्यासे।

१२. निवृत्तो यदा कोष्ठमभिहन्ति तदा कोष्ठेऽभिहन्यमाने—न्यासे।

१३. वर्णधर्म उपजायते— न्यासे। १४. नास्ति सूत्रं—न्यासे।

वृद्धपाठः

१०. तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतत्वं तदा नादो जायते ।[1]

११. विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते ।[2]

१२. तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते ।[3]

१३. अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत् ।[4]

१४. तत्र यदा नाभिस्थलजध्वनौ[5] नादोऽनुप्रदीयते, तदा नादध्वनिसंसर्गाद्[6] घोषो जायते ।

१५. यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वास[ध्वनि]संसर्गाद्[7] अघोषो जायते ।[8]

१६. सा घोषवदघोषता ।[9]

१७. महति वायौ महाप्राणः ।

१८. अल्पे वायावल्पप्राणः ।

१९. साल्पप्राणमहाप्राणता ।[10]

२०. [यत्र] महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते ।[11]

२१. तत्र[12] यदानुसारिप्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां[13] निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्व[14] स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते ।

२२. यदा मन्दः प्रयत्नो भवति, तदा गात्राणां[15] प्रसन्नत्वं कण्ठबिलस्य च बहुत्वं[16] स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वाद् स्निग्धता भवति । तमनुदात्तमाचक्षते ।

---

१. संवृते गलबिलेऽव्यक्तः शब्दो नादः—न्यासे । न्यासेऽर्थतोऽनुवादः स्यात् ।

२. विवृते श्वासः—न्यासे । न्यासेऽर्थतोऽनुवादः स्यात् ।

३. तौ श्वासनादानुप्रदानाविति केचिदाचक्षते—न्यासे ।

४. अन्ये तु ब्रुवते—अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टानिर्ह्रादवत्—न्यासे ।

५. यदा स्थानाभिघातजे ध्वनौ—न्यासे ।

६. ० ध्वनिसंगाद्—न्यासे ।

७. ० ध्वनिसंगाद्—न्यासे ।

८. जायते—नास्ति न्यासे ।

९. सूत्रं नास्ति—न्यासे ।

१०. सूत्रं नास्ति—न्यासे ।

११. सूत्रं नास्ति—न्यासे ।

१२. तत्र—नास्ति । यदा सर्वाङ्गानुसारी—न्यासे ।

१३. गात्रस्य—न्यासे ।

१४. कण्ठविवरस्य चाणुत्वं—न्यासे ।

१५. गात्रस्य स्रंसवं—न्यासे ।

१६. महत्त्वं—न्यासे ।

वृद्धपाठः

२३. उदात्तानुदात्त[1]सन्निकर्षात् स्वरित इति ।

२४. स एवं प्रयत्नोऽभिनिवृत्तः कृत्स्नः प्रयत्नो भवति ।

२५. स एवमापिशिलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति ।

२६. तद्यथा—स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृता संविवृता च । ५
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता ।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिता इति ।

२७. इदानीं शिक्षाग्रन्थः श्लोकैरुपसंह्रियते—

२८. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥ १०

२९. स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च ।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते ॥

३०. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता ।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः ॥

३१. बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः ॥ १५

—: इति पाणिनीयशिक्षासूत्राणां वृद्धपाठः समाप्तः :—

---

१. उदात्तानुदात्तस्वरसन्निकर्षात्—न्यासे ।

छठा परिशिष्ट

जाम्बवती-विजय के उपलब्ध श्लोक वा श्लोकांश

'जाम्बवतीविजय' अपर नाम 'पातालविजय' के सम्बन्ध में इस इतिहास के प्रथम भाग (पृष्ठ २६३ च० सं०) में संक्षेप से, ५ और द्वितीय भाग में 'लक्ष्य-प्रधान काव्यशास्त्रकार वैयाकरण कवि' नामक ३० वें अध्याय (पृष्ठ ४६४-४७३, तृ० सं०) में विस्तार से लिख चुके हैं। महामुनि पाणिनि के इस महान् काव्य के उद्धरण अभी तक जिन २६ ग्रन्थों में उपलब्ध हुए हैं, उनके नाम उसी प्रकरण (पृष्ठ ४७१-४७२) में लिख चुके हैं। अब यहाँ उन ग्रन्थों में इस १० महाकाव्य के जितने भी श्लोक वा श्लोकांश उपलब्ध हुए हैं, उन्हें हम नीचे दे रहे हैं। पाठकों को इन उद्धरणों से इस काव्य के शब्द-लालित्य एवं भावसौन्दर्य का कुछ परिचय मिलेगा।

हम (भाग २, पृष्ठ ४३४ तृ० सं०) लिख चुके हैं कि सब से प्रथम पाणिनीय इस महाकाव्य के उपलब्ध उद्धरणों का संकलन १५ पी० पीटर्सन ने किया था। उसके पश्चात् नये उद्धरणों के साथ पं० चन्द्रधर गुलेरी ने हिन्दी-अनुवाद सहित इनका संग्रह प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् दो उद्धरण और उपलब्ध हुए हैं। हम प्रथम पं० चन्द्रधर गुलेरी के संकलनानुसार उद्धरण दे रहे हैं, पश्चात् नये उद्धरण दिये जायेंगे। पं० चन्द्रधर गुलेरी का भाषानुवाद भी स्वल्प २० शोधन के साथ दिया जा रहा है।

(१)

अस्ति प्रतीच्यां दिशि सागरस्य वेलोर्मिगूढे हिमशैलकुक्षौ[1]।
पुरातनी विश्रुतपुण्यशब्दा महापुरी द्वारवती च नाम्ना ॥[2]

---

१. यहाँ 'हिमशैल' शब्द विचारणीय हैं। द्वारका के आसपास के पर्वतों २५ पर बर्फ नहीं जमती। सम्भव है हिम शब्द ठण्डे अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो, अथवा शान्त ज्वालामुखी पर्वत की ओर इसका संकेत हो।

२. दुर्घट वृत्ति ४।३।२३। पृष्ठ ८२ (प्र० सं०) — 'तथा च जाम्बवती विजय पाणिनिनोक्तम्.......... इति द्वितीय सर्गे।'

पश्चिम दिशा में सागर की लहरों से बरफीले पहाड़ की कोख में प्राचीन और प्रसिद्ध 'द्वारका' नामक महापुरी थी।

(२)

अनेन यात्रानुचितं धराधरैः पुरातनं साजलतं (?) महीक्षिताम्।
ददर्श सेतुं महतो जरन्तया (?) विशीर्णसीमन्त इवोदय (?क) श्रिया ॥[1] ५

पाठ अशुद्ध है। ठीक अर्थ समझ नहीं पड़ता।

(३)

त्वया सहार्जितं यच्च यच्च सख्यं पुरातनम्।
चिराय चेतसि पुनस्तरुणीकृतमद्य मे ॥[2]

जो मित्रता मैंने तेरे साथ सम्पादन की और जो पुरानी है, आज १० वह बहुत दिनों पीछे मेरे चित्त में फिर नई सी हो गई।

(४)

बार्हद्रथं येन विवृत्तचक्षुर्विहस्य सावज्ञमिदं बभाषे।[3]

इसी से अवज्ञा के साथ आंखे बदल कर हंसते-हंसते यह कहा।

(५) १५

सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः।[4]

सूर्य अपनी सन्ध्यारूपिणी वधू को हाथ से पकड़ कर।

(६)

स पार्षदैरम्बरमपुपुरे।[5]

उस शिव ने अपने गणों के साथ आकाश को भर दिया। २०

---

१. दुर्घटवृत्ति ४।३।२४ पृष्ठ ८२ (प्र० सं०)—'..... इति चतुर्थे।'

२. वही '.....इत्यष्टादशे'।

३. गणरत्नमहोदधि (इटावा संस्क०) पृष्ठ ७—'तथाहि जाम्बवती-हरणे।'

४. नमि साधु कृत रुद्रट काव्यालंकार टीका। २५

५. अमरकोश—पदचन्द्रिका टीका (रायमुकुट)—'इति जाम्बवत्यां पाणिनिः। अमरकोश कां० १, वर्ग १, श्लोक ३१ में शिव के गण के लिये 'परिषत्' शब्द आया है, उसका रूपान्तर 'पार्षद' पाणिनि प्रयोग दिया है।

(७)

पयः पृषन्तिभिः स्पृष्टा ला (वा ?) न्ति वाताः शनैः-शनैः ।[1]

पानी के फुहारों से छुई हुई वायु धीरे-धीरे बह रही है।

(८)

५ **स सृक्विकणीप्रान्तमसृक्प्रदिग्ध प्रलेलिहानो हरिणारिरुच्चकैः ।**[2]

लोहू लगे हुए होठों के कोनों को पुनः-पुनः चाटता हुआ वह सिंह जोर से।

(९)

हरिणा सह सख्यं ते बोभूत्विति यदब्रवीः ।
१० **न जाघटीति युक्तौ तत् सिंहद्विरदयोरिव ॥**[3]

जो तूने यह कहा है कि हरि के साथ तेरी मित्रता हो, तो यह युक्ति में संघटित नहीं होता, जैसे कि सिंह और हाथी की मित्रता।

(१०)

गतेऽर्धरात्रे परिमन्दमन्दं गर्जन्ति यत्प्रावृषि कालमेघाः ।
१५ **अपश्यती वत्समिवेन्दुबिम्बं तच्छर्वरी गौरिव हुंकरोति ।।**[4]

पावस में आधी रात बीत जाने पर मेघ धीरे-धीरे गरजते हैं, मानो रात गौ है, चन्द्रमा उसका बछड़ा है। बछड़े को (बादलों में छिपे हुए चांद को) न देखकर रात्रि रूपी गौ रंभा रही है।

---

१. अमरकोश-पदचन्द्रिका टीका (रायमुकुट)—'इति जाम्ववती विजय-
२० वाक्यम्।' अमर १।१०।६ में 'पृषत्' शब्द जलबिन्दु के लिये नपुंसक लिङ्ग दिया है। पाणिनि ने स्त्रीलिङ्ग ह्रस्व इकारान्त 'पृषन्ति' का प्रयोग किया है। यहां केवल काव्य का नाम है, कवि का नाम नहीं।

२. वही, अमरकोश २।६।९१ में होठों के कोनों के लिये 'सृक्वन्' पद नपुंसकलिङ्ग दिया है। पाणिनि ने ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग का व्यवहार किया है।
२५ आफ्रेक्ट ने हलायुध की रत्नमाला की सूची में भी इसका उल्लेख किया है।

३. रामनाथ की कातन्त्र धातुवृत्ति, भाषावृत्ति २।४।७४—'इति पाणिनेर्जाम्बवतीविजय काव्यम्।' भाषावृत्ति में 'संख्य' (=लड़ाई) पाठ है।

४. नमि साधु कृत रुद्रट काव्यालंकार टीका—'तस्यैव कवेः'। 'अपश्यती' के स्थान में 'अपश्यन्ती' होना चाहिये।

(११)

तन्वङ्गीनां स्तनौ दृष्ट्वा शिरः कम्पयते युवा।
तयोरन्तरसंलग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ॥[1]

कोमलाङ्गी नारियों के स्तनों को देखकर जवान आदमी सिर धुनता है। जैसे कि उनमें निगाह फंस गई है, उसे हिला-हिलाकर उखाड़ रहा है। ५

(१२)

उपोढरागेन विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽतिरागाद् गलितं न वीक्षितम् ॥[2]

चन्द्रमा (नायक) ने रात्रि (नायिका) का मुख (प्रदोषकाल-वदन) जिसमें तारे (आंखों की पुतलियां) चंचल हो रहे थे, राग (ललाई-प्रीति) बढ़ जाने से यों पकड़ा कि उसे अन्धकाररूपी वस्त्र (दुपट्टा) सारे का सारा खिसकता हुआ जान ही न पड़ा। १०

(१३)

पाणौ पद्मधिया मधूकमुकुलभ्रान्त्या तथा गन्डयोर् १५
नीलेन्दीवरशङ्कया नयनयोर्बन्धूकबुद्ध्याऽधरे।
लीयन्ते कबरीषु बान्धवजनव्यामोहबद्धस्पृहा।
दुर्वारा मधुपाः कियन्ति सुतनु स्थानानि रक्षिष्यसि ॥[3]

भला सुन्दरी? तुम अपने कितने अङ्गों को इन भौरों से बचाओगी? ये तो पीछा छोड़ते दिखाई नहीं देते। हाथों को कमल, कपोलों को महुवे की कलियां, आंखों को नीलकमल, अधर को बन्धूक, और केशपाश को अपने भाई-बन्धु समझकर वे बढ़े चले आते हैं। २०

---

१. कवीन्द्रवचन समुच्चय में पाणिनि के नाम से, दशरूपक और वाग्भट्ट के काव्यालंकार में बिना नाम के।

२. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से, जल्हण की सूक्ति मुक्तावली में नाम से, वल्लभदेव की सुभाषितावली में नाम से। सुभाषितरत्नकोष, सूक्ति मुक्तावली-सार संग्रह, ध्वन्यालोक, अलङ्कारसर्वस्व (रुय्यक), काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) और अलङ्कारतिलक में बिना नाम के। २५

३. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से, कवीन्द्रवचन समुच्चय और अलङ्कारशेखर में बिना नाम के, शार्ङ्गधरपद्धति और पद्यरचना में 'अचल' के नाम से। ३०

(१४)

असौ गिरेः शीतलकन्दरस्थः पारावतो मन्मथचाटुदक्षः ।
घर्मालसाङ्गीं मधुराणि कूजन् संवीजते पक्षपुटेन कान्ताम् ॥[1]

पहाड़ की शीतल गुफा में बैठा हुआ, काम के चोंचलों में निपुण वह कबूतर मीठी बोली बोलकर गरमी से व्याकुल कबूतरी को अपने पंखों (परों) से पंखा कर रहा है ।

(१५)

उद्ब (? व) हेम्यः सुदूरं घनजनिततमःपूरितेषु द्रुमेषु
प्रोद्ग्रीवं पश्य पादद्वयनमितभुवः श्रेणयः फेरवाणाम् ।
उल्कालोकैः स्फुरद्भिर्निजवदनदरीसर्पिभिर्वीक्षितेभ्यः
श्च्योतत् सान्द्रं वसाम्भः कुथितशववपुर्मण्डलेभ्यः पिबन्ति ॥[2]

देखिये, बादलों के छा जाने से दूर तक अंधेरा हो रहा है, पेड़ों से लाशें लटक रही हैं, उनमें से मज़्जा बह रही है, शृगाल के मुंह से आग निकला करती है, उसी के प्रकाश में लाशों को देखकर शृगालों की पांत की पांत गर्दन ऊंची किये और पृथिवी को पैरों से चांपकर घनी मज्जा को पी रही हैं।

(१६)

कल्हारस्पर्शगर्भैः शिशिरपरिचयात् कान्तिमद्भिः कराग्रैश्
चन्द्रेणालिङ्गिता यास्तिमिरनिवसने स्रंसमाने रजन्याः ।
अन्योन्यालोकिनीभिः परिचयजनितप्रेमनिःस्यन्दिनीभिर्
दूरारूढे प्रमोदे हसितमिव परिस्पष्टमाशासखीभिः ॥[3]

शिशिर ऋतु आगई है, चन्द्रमा की किरणें शीतल और प्रकाशमान हो गई हैं। चन्द्रमा (नायक) ने अपनी किरणों (हाथों) को बढ़ाकर रात्रि (नायिका) का आलिङ्गन किया, उसका अन्धकाररूपी वस्त्र खिसकने लगा। इस पर दिशाएं (उसकी सखियां) बहुत आनन्दित होने से खिलखिला कर हंस पड़ीं, चारों ओर प्रकाश फैल गया।

---

१. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से ।

२. वहीं, नाम से ।   ३. वहीं, नाम से ।

(१७)

चञ्चत्पक्षाभिघातं ज्वलितहुतप्रौढधाम्नश्चिताया:
क्रोडाद् व्याकृष्टमूर्तेरहमहमिकया चण्डचञ्चुग्रहेण।
सद्यस्तप्तं शवस्य ज्वलदिव पिशितं भूरि जग्ध्वार्धदग्धम्
पश्यान्त: प्लुष्यमाण: प्रविशति सलिलं सत्वरं गृद्धवृद्ध:॥[1] ५

चिता धधक रही है। अधजले मुर्दे का मांस झपटने के लिए गीधों की होड़ाहोड़ी हुई। एक बुड्ढे गीध ने औरों को डैनों की मार से भगा दिया, और चोंच से पकड़कर मांस खींच लिया। वह जल्दी से बहुत सा जलता हुआ मांस खागया और भीतर जलने लगा, तो दौड़कर ठण्डक के लिये पानी में घुस रहा है। १०

(१८)

पाणौ शोणतले तनूदरि सूक्ष्माभा कपोलस्थली
विन्यस्ताञ्जनदिग्धलोचनजलै: किं म्लानिमानीयते।
मुग्धे चुम्बतु नाम चञ्चलतया भृङ्ग: क्वचित् कन्दलीम्
उन्मीलन्नवमालतीपरिमल: किं तेन विस्मार्यते॥[2] १५

सखी खण्डिता नायिका से कहती है—कृशोदरि! लाल हथेलियों पर कृश कपोल को रखकर काजलवाले आंसुओं से उसे क्यों म्लान कर रही हो? भोली! भौंरा चञ्चलता से कहीं जाकर कन्दली को भले ही चख आवे, किन्तु क्या इससे वह नई खिली मालती के सुवास को कभी भूल सकता है? २०

(१९)

मुखानि चारूणि घना: पयोधरा:
नितम्बपृथ्व्यो जघनोत्तमश्रिय:।
तनूनि मध्यानि च यस्य सोऽभ्यगात्
कथं नृपाणां द्रविडीजनो हृद:॥[3] २५

जिनके सुन्दर मुख, घने स्तन, भारी नितम्ब, उत्तम जघन, और

---

१. सदुक्तिकर्णामृत में नाम से।

२. वहीं, नाम से; कवीन्द्र-वचन-समुच्चय में विना नाम के।

३. वहीं, नाम से।

कृश मध्यभाग हैं, वे द्रविड़ देश की स्त्रियां राजाओं के मन से कैसे निकल गईं ?

(२०)

क्षपाः क्ष्मामीकृत्य प्रसभमपहृत्याम्बु सरितां
प्रताप्योर्वीं कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम् ।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति समालोकनपरास्
तडिद्दीपालोका दिशिदिशि चरन्तीह जलदाः ॥[1]

(वर्षा ऋतु का वर्णन है) जिसने रातों को कृश (छोटी) कर दिया, बलात्कार से नदियों का पानी चुरा लिया (सुखा दिया), सारी पृथिवी को संतप्त कर दिया, जंगल के सारे वृक्षों को सुखा दिया। ऐसा अपराधी सूर्य अब कहां चला गया ? इसीलिए बिजली के दीपक हाथ में लिए मेघ सब दिशाओं में उसे ढूंढते फिर रहे हैं।

(२१)

अथाससादास्तमनिन्द्यतेजा जनस्य दूरोज्झितमृत्युभीतेः ।
उत्पत्तिमद् वस्तु विनाश्यवश्यं यथाहमित्येवमिवोपदेष्टुम् ॥[2]

दीप्तिमान् सूर्य अस्त हो गया। मानो वह उन लोगों को, जिन्होंने मृत्यु का भय बिलकुल छोड़ दिया है, यह उपदेश देने के लिए कि 'जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उसका विनाश अवश्यभावी है जैसे कि मेरा'।

(२२)

ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद् दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥[3]

शरद ऋतु (नायिका) ने सूर्य (नायक) का सन्ताप (तपन-जलन) बहुत बढ़ा दिया। क्यों न हो, वह उज्ज्वल पयोधरों (मेघों-स्तनों) पर ताजा नखक्षत के समान इन्द्र (प्रतिनायक) का धनुष दिखा रही है, और सकलङ्क चन्द्रमा (प्रतिनायक) को प्रसन्न निर्मल-आनन्दित) कर रही है।

---

१. सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितावली, सभ्यालंकरण संयोगशृङ्गार, पद्य-रचना में नाम से। सदुक्तिकर्णामृत में श्रीकण्ठ के नाम से। कवीन्द्रवचन समुच्चय और सुभाषितरत्नकोश में विना नाम के।

२. सुभाषितावली में नाम से। ३. सुभाषितावली में नाम से।

(२३)

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः ।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्
चन्द्रोदयमित्यार्त्ततरं ररास ॥[1] ५

रात्रि में बादल ने बिजली की आंख से अभिसारिका का मुख देखा। देखकर उसे संदेह हुआ कि कहीं मैंने जलधाराओं के साथ चन्द्रमा को तो नहीं गिरा दिया है ? इस पर वह और भी अधिक कड़कने (रोने-पीटने) लगा।

(२४) १०

प्रकाश्य लोकान् भगवान् स्वतेजसा
प्रभादरिद्रः सविताऽपि जायते ।
अहो चला श्रीर्बलमानदा (?) महो
स्पृशन्ति सर्वं हि दशाविपर्यये ॥[2]

अपने तेज से सब लोकों को प्रकाशित करके सूर्य भी अन्त में १५ प्रभा से रहित हो जाता है। लक्ष्मी चञ्चल है, सभी को विपरीत काल में बल और मान को घटाने वाली दशा आ जाती है (मूल कुछ अस्पष्ट है)।

(२५)

विलोक्य सङ्गमे रागं पश्चिमाया विवस्वतः । २०
कृतं कृष्णमुखं प्राच्या नहि नार्यो विनेर्ष्यया ॥[3]

सूर्य के संगम होने पर पश्चिम दिशा का राग (प्रेम—ललाई) देखकर पूर्व दिशा ने अपना मुंह काला (अंधिया=स्वाना) कर लिया। भला कभी स्त्रियां ईर्ष्यारहित हो सकती हैं ?

---

१. सुभाषितावली में, नाम से। कुवलयानन्द, अलङ्कार-कौस्तुभ, २५ प्रतापरुद्र-यशोभूषण (टीका) में विना नाम के।

२. सुभाषितावली में, नाम से।

३. वहीं, नाम से। शार्ङ्गधर पद्धति में 'कस्यापि'।

(२६)

शुद्धस्वभावान्यपि संहतानि
निनाय भेदं कुमुदानि चन्द्रः ।
अवाप्य वृद्धि मलिनान्तरात्मा
५ **जडो भवेत् कस्य गुणाय वक्रः ॥**[1]

चन्द्रमा ने शुद्ध स्वभावयुक्त और मिलकर रहनेवाले कुमुदों में भेद डाल दिया (खिला दिया) भला जिसका पेट मैला हो जो जड़ (जलमय) और टेढा हो वह बढ़कर किसे निहाल करेगा ?

(२७)

१० **सरोरुहाणि निमीलयन्त्या रवौ गते साधुकृतं नलिन्या ।**
अक्ष्णां हि दृष्ट्वापि जगत् समग्रं फलं प्रियालोकनमात्रमेव ॥[2]

सूर्य अस्त हो गया । नलिनी ने कमलरूप नेत्र मूंद लिए । बहुत अच्छा किया । आंखों से चाहे सब कुछ देखते रहें, परन्तु उनका फल तो प्रिय को देखना मात्र ही है न ?

१५ (२८)

करीन्द्रदर्पच्छिदुरं मृगेन्द्रम् ।[3]

गजराजों के दर्प के दमनशील मृगराज को ।

इन २८ उद्धरणों में संख्या १,२,३,४,२८ पं० चन्द्रधर गुलेरी द्वारा गृहीत हैं । शेष पी० पिटर्सन द्वारा JRAS १८९१ (पृष्ठ ३१३-
२० ३१६) में प्रकाशित किये गए थे ।

अब हम उन उद्धरणों को प्रकाशित करते हैं, जो अभी-अभी प्रकाश में आये हैं ।

काफिरकोट के पास से पाकिस्तान के अधिकारियों को भामह के काव्यालङ्कार की टीका की एक जीर्ण प्रति उपलब्ध हुई है । यह
२५ अभी प्रकाशित हुई है । उसके पृष्ठ ३४ के अन्त और पृष्ठ ३५ के आदि में निम्न पाठ हैं—

---

१. वहीं, नाम से ।

२. वहीं, नाम से ।

३. भाषावृत्ति ३।२।१३२ में नाम से ।

.........इदमुदाहरणं समासोक्तेः—उपोढ [.................] परोऽपि मोहाद् गलितं न रक्षित (म्)। अत्र शशिरजनी व्याषाण-परे य प्र XXX सह X त।

यह '**उपोढ .....गलितं न रक्षितम्**' पाठ (जो मध्य में त्रुटित एवं भ्रष्ट है) पाणिनीय काव्य का है। इसका पूरा पाठ पूर्व संख्या १२ पर देखें। ५

उक्त टीका ग्रन्थ उद्भट का विवरण है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। यह भोजपत्र पर १०वीं शती की शारदा लिपि में लिखा हुआ है।

सुभाषित रत्नकोश का सन् १९५७ में हार्वड विश्वविद्यालय से एक सुन्दर संस्करण छपा है। इसके सम्पादक हैं—डी० डी० कोसाम्बी १० और वी० वी० गोखले। इस संस्करण के अन्त में परिशिष्ट में 'नन्दन' कृत 'प्रसन्न-साहित्य-रत्नाकर' में संगृहीत कतिपय कवियों के वचनों का संग्रह किया गया है। इसमें पृष्ठ ३३१ पर पाणिनि के निम्न दो श्लोक उद्धृत हैं—

(२९-३०) १५

अनडुहि जितनीडजेन्द्रवेगे कृतनिबिडासनमुज्झिताघपीडे।
स्मरशमनतडित्कडारदृष्टिं मृडमुडुराडुपशोभिचूडमीडे॥

हरकोपानलप्लुष्टविरूढस्मरशाखिनः।
अयमाभाति तन्वङ्ग्याः पाणिः प्रथमपल्लवः॥

पक्षिराज गरुड से भी शीघ्रगामी, प्रसन्न मन बैल पर अपना अडिग २० आसन लगाये, अपनी कोप दृष्टि से कामदेव को भस्म करने वाले, चन्द्रचूड़ भगवान् शिवशंकर की मैं स्तुति करता हूं।

तन्वङ्गी का यह हाथ हर (महादेव) के कोप रूप अग्नि से दग्ध कामदेव रूपी वृक्ष का झड़ा हुआ नवीन पल्लव रूप प्रतीत होता है।

राजशाही (बंगला-देश) से सन् १९१८ में प्रकाशित भाषावृत्ति २५ के सम्पादक श्रीशचन्द्र चक्रवर्ती भट्टाचार्य ने '**ओत्**' (अष्टा० १।१। १५) सूत्र के **अहो अहम्** उदाहरण की टिप्पणी (पृष्ठ ५) में जाम्बवतीविजय का निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

(३१)

अहो अहं नमो मह्यं यदुद्धृत्य सुमध्यया ।
उल्लास्य नयने दीर्घे सकाङ्क्षमहमीक्षितः ॥[१]

जाम्ववती के दर्शन के अनन्तर श्री कृष्ण ने कहा—मैं धन्य हूं, मुझे नमस्कार है अर्थात् मैं सत्कृत हुआ हूं, जो सुमध्या जाम्बवती ने अपने विशाल नेत्र उठाकर और खोलकर आकाङ्क्षा सहित मुझे देखा है।'

जाम्बवतीविजय का यह श्लोक श्रीशचन्द्र चक्रवर्त्ती ने कहां से प्राप्त करके उद्धृत किया, इसका उन्होंने कोई संकेत नहीं किया। श्लोक के अनन्तर टिप्पणी का अंश है—

इति जाम्बवतीविजयकाव्ये जाम्बवतीदर्शनोत्तरं कृष्णोक्तिः ।

इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने टिप्पणी सहित यह श्लोक सम्भवतः सृष्टिधर विरचित 'भाषावृत्त्यर्थविवृति' से लिया होगा अथवा बंगाल में प्रसिद्ध किसी अन्य व्याकरण ग्रन्थ से लिया होगा।

इसी प्रकरण में **धर्मपाणिनि** के नाम से एक श्लोक उद्धृत है। यह धर्मपाणिनि कौन है यह ज्ञातव्य है। श्लोक इस प्रकार है—

नीलाम्भोरूहकानने न विशति ध्वान्तोत्कराशङ्कया
स्वक्रीडोच्छलिताश्च वारिकणिकास्ताराभ्रमात् पश्यति ।
सत्रासं मुहुरीक्षते च चकितो हंसं हिमांशुभ्रमान्
न स्वास्थ्यं भजते दिवापि विरहाशङ्की रथाङ्गाह्वयः ॥

वियोग की आशंका से चक्रवाक नीलकमलों के समूह को रात्रि का अन्धकार समझकर उनमें प्रवेश नहीं कर रहा है। अपनी जल क्रीड़ाओं में उछाले गए जल के कणों को तारे समझ कर उन्हें निहार रहा है, और चकित होकर सूर्य को चन्द्रमा समझकर पुनः पुनः उसे देख रहा है। इस प्रकार वह बेचारा दिन में भी चैन का अनुभव नहीं कर पा रहा है।

यह श्लोक सदुक्तिकर्णामृत २।१४।२ में धर्मपाल के नाम से स्मृत है।

॥ इति जाम्बवतीविजय-काव्योद्धरण-संकलनं समाप्तम् ॥

---

१. इस श्लोक की सूचना श्री विजयपाल शास्त्री (शोध-छात्र) दिल्ली ने अपने १८।६।८४ के पत्र में दी है।

सातवां परिशिष्ट

समुद्रगुप्त–विरचितम्

कृष्णचरितम्

[हमने पाणिनि व्याडि कात्यायन और पतञ्जलि के प्रकरण में समुद्रगुप्त विरचित कृष्णचरित के अनेक उद्धरण दिये हैं। इसका स्वल्प सा उपलब्धभाग गोंडल (काठियावाड़) के राजवैद्य जीवाराम कालिदास ने स्वीय विवरण सहित सन् १९४१ में छपवाया था। यह सम्प्रति दुर्लभ हो गया है। अतः जिज्ञासु पाठकों की जिज्ञासा शान्त्यर्थ हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं] ५

मुनिकवयः

.... १०
....मिवाकरोत्[1] ॥१२॥

२. शाङ्खायन—

शाङ्ख्यायनाय कवये नमोऽस्तु कण्ठाभरणकर्त्रे।
काव्यं यस्य रसाढ्यं कण्ठाभरणं सदा विदुषाम् ॥१३॥

३. वररुचिः कात्यायनः-- १५

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि।

---

१. इस से पूर्व १२ श्लोक हस्तलेख के आद्य एक वा दो पत्रों के विनष्ट हो जाने से लुप्त हो गये। प्रकृत मुनिकवि-वर्णन के अन्त में ३३वें श्लोक में 'दशमेऽभिहिताः' वचन से विदित होता है कि विनष्ट श्लोकों में किसी मुनि कवि का वर्णन था। यह मुनि कवि दाक्षीसुत पाणिनि था यह १५वें श्लोक में २० 'काव्येऽपि भूयोऽनु चकार तं वै' के पाठ से विदित होता है। पाणिनि का जाम्बवती काव्य भारतीय वाङ्मय में बहुत्र उद्धृत है। उसके उपलब्ध पद्यों का संकलन पूर्व छठे परिशिष्ट में किया है।

काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः[1] कविः ॥१४॥

न केवलं व्याकरणं पुपोष
दाक्षीसुतस्येरितवार्त्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै
कात्यायनो[1]ऽसौ कविकर्मदक्षः ॥१५॥

४. व्याडिः—

रसाचार्यः[2] कविर्व्याडिः शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः ।
दाक्षीपुत्रवचोव्याख्यापटुर्मीमांसकाग्रणीः ॥१६॥
बलचरितं कृत्वा यो जिगाय भारतं व्यासं च ।
महाकाव्यविनिर्माणे तन्मार्गस्य प्रदीपमिव ॥१७॥

५. देवलः—

सुयशा अभवद् भूमौ बृहस्पतिसमः कविः ।
यत्काव्यमिन्द्रविजयं भासते देवलोऽन्त्यजः ॥१८॥

६. पतञ्जलिः—

विद्ययोद्रिक्तगुणया भूमावमरतां गतः ।
पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ॥१९॥
कृतं येन व्याकरणभाष्यं वचनशोधनम् ।
धर्माावियुक्ताश्चरके[3] योगारोगमुषः कृताः ॥२०॥

---

१. वररुचि कात्यायन के विषय में इसी ग्रन्थ के भाग १, पृष्ठ ३३७-३३८ देखें ।

२. व्याडि सहित प्राचीन २७ रसाचार्यों के विषय में इसी ग्रन्थ के भाग १, पृष्ठ ३०३-३०४ देखें ।

३. 'चरक' वैशम्पायन मुनि का अपर नाम है । द्र० काशिका ४।३।१०४॥ इस नाम के कारण के लिये देखिये हमारा **'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'** लेख (वैदिक सिद्धान्त मीमांसा (पृष्ठ १७९) आयुर्वेद की चरक संहिता इसी चरक =वैशम्पायन द्वारा प्रति संस्कृत है । वैशम्पायन=चरक के **शिष्यों** द्वारा प्रोक्त कृष्ण यजुर्वेद की सभी शाखाओं के अध्येता चरक कहाते हैं । पतञ्जलि मुनि का चरक चरणान्तार्गत काठक संहिता के साथ संबन्ध था (द्र० यही ग्रन्थ भाग १, पृष्ठ ३६१-३६३) ।

महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।
योगव्याख्यानभूतं तद् रचितं चित्तदोषहम् ॥२१॥

७. भासः—

भासमान महाकाव्यः कृतविंशतिनाटकः ।
अनेकाङ्कविधाता च मुनिर्भासोऽभवत कविः ॥२२॥ ५

यस्यामन्दरसा वाचः स्यन्दन्त्यानन्दमुच्चकैः ।
अन्येन केन कविना तुल्यता तस्य वर्तताम् ॥२३॥

अन्यः कः कर्त्तुमशकत् कविर्धर्मार्थकामवत् ।
यथा वासवदत्ताख्यं यस्य नाटकमुत्तमम् ॥२४॥

वाल्मीकिवैभवनिदर्शनमादिकाव्यं १०
रङ्गे निर्दशितभयं सुरसं चकार
व्यासस्य भारतमभारतया सुदर्शं
कृत्वा च तत्र विविधाः स्वकथा युयोज ॥२५॥

रूपकक्रममस्यैव कवयोऽन्ये ययुर्बुधाः ।
अयं च नान्वयात् पूर्णं दाक्षीपुत्रपदक्रमम्[1] ॥२६॥ १५

अभिरामाः सुबोधाश्च यस्य वाचो महाकवेः ।
रसैरग्नि शमं निन्युस्तस्य किं वर्ण्यतां यशः ॥२७॥

८. वर्धमानः—

दावमब्द इव क्षिप्तं निस्तापं हृदयं सताम् ।
करोति वर्धमानस्य कवेर्भीमजयं रसैः ॥२८॥ २०

९. चीनदेवः—

---

१. इस का तात्पर्य यह है कि भास ने अपने नाटकों में पाणिनीय तन्त्र में अप्रसिद्ध बहुत से पदों का प्रयोग किया है। यह अपाणिनीय पदप्रयोग ही भास के प्राचीनत्व में सबसे बड़ा प्रमाण है। पाणिनि के अष्टाध्यायी नामक शब्दानुशासन में स्वीय शब्दानुशासन से असिद्ध लगभग १०० पदों का प्रयोग किया २५ है (पाणिनीय काव्य जाम्बवतीविजय में भी इस प्रकार के बहुत से प्रयोग हैं) इसका कारण पाणिनीय शब्दानुशासन का संक्षिप्त होना है। द्र० यही ग्रन्थ, भाग १, पृष्ठ २४३-२४७।

बाह्योऽप्यहो इहागत्य कविः सम्मानमाप्तवान् ।
अकरोद् बुद्धचरितं मागध्यामृषिवाच्यपि ॥२९॥
पीयूषलिप्तवचनश्चीनदेवोव्रती कविः ।
यशः शरीरेण सदा जीवत्येव महामतिः ॥३०॥

५ १० **मिहिरदेवः—**

काव्यं चकार रमणीयगुणं यशस्यम्
सूर्यस्तवं शिखरिणीशतमानमाप्तम् ।
अत्र स्थितोऽलभत भूरियशो बभूव,
भक्तः सहस्रकिरणस्य तमोपहन्तुः ॥३१॥

१० जातो महात्मनां मान्यः पशु वंशभवोऽपिसन् ।
चक्रे मिहिरदेवः स रम्यं चादित्यमन्दिरम् ॥३२॥

पीयूष सोदर्यरसाः सुखेन
धर्मार्थकामान् सकलान् ददत्यः ।
येषां गिरस्ते कवयो महान्तः
१५ पूर्वं दशेमेऽभिहिता मयाऽत्र ॥३३॥

**॥ इति श्रीविक्रमाङ्कमहाराजाधिराजपरमभागवत-
श्रीसमुद्रगुप्तकृतौकृष्णचरिते कथा-
प्रस्तावनायां मुनिकविकीर्तनम् ॥**

अथ राजकवयः

२० जयत्ययं पूर्णकलः कविकीर्त्तिः सुधाकरः ।
अकलङ्को रसाम्भोधिमुद्वर्तयति यः सदा ॥१॥

व्याहारसौष्ठवमुदाररसं महार्थं
यन्नाटकं सुरभिगर्भितनाटकं च ।
तद्वत्सराजचरितं मृदुभावहारि
२५ कृत्वा सुबन्धुरभवत् कृतीनां वरेण्यः ॥२॥

बिन्दुसारस्य नृपतेः स बभूव सभाकविः ।
किं तु सेहे न तद्गर्वं तिरश्चक्रे च तां सभाम् ॥३॥

उरगाभे नृपे तस्मिन् क्रुद्धे बन्धमितं कविम् ।
सरस्वती मोचयामास तं देशं सोऽत्यजत् तदा ॥४॥
विद्वान् जयी वत्सराजो दृष्ट्वा वैदुष्यमुत्तमम् ।
पञ्च ग्रामान् ददौ तस्मै निजां भगिनिकां तथा ॥५॥
पुरन्दरबलो विप्रः शूद्रकः शास्त्रशस्त्रवित् । ५
धनुर्वेदं चौरशास्त्रं रूपके द्वे तथा करोत् ॥६॥
स विपक्षविजेताभूच्छास्त्रैः शस्त्रैश्चकीर्तये ।
बुद्धिवीर्येनास्य वरे सौगताश्च प्रसेहिरे ॥७॥
स तस्तारारिसैन्यस्य देहखण्डैः रणे महीम् ।
धर्माय राज्यं कृतवान् तपस्विव्रतमाचरन् ॥८॥ १०
शस्त्रैर्जितमयं राज्यं प्रेम्णाऽकृत निजं गृहम् ।
एवं ततस्तस्य तदा साम्राज्यं धर्मशासितम् ॥९॥
तत्कथां कृतवन्तौ यौ कवी **रामिलसोमिलौ** ।
तस्यैव सदसि स्थित्वा तौ मानं बह्वाप्नुताम् ॥१०॥
सतां मतः सोऽश्वमेधं कृतवानुरुविक्रमः । १५
वत्सरं स्वं शकान् जित्वा प्रावर्तयत वैक्रमम् ॥११॥
भूयः स मृच्छकटिकं नवाङ्कं नाटकं व्यधात् ।
व्यधात्तस्मिन् स्वचरितं विद्यानयबलोर्जितम्[1] ॥१२॥
तदार्यकजयं नाम्ना ख्यातिं विद्वत्स्वविन्दत ।
एवं ब्रह्मक्षत्रतेजोराशिरासीत स शूद्रकः ॥१३॥ २०
उपवेश्य निजं पुत्रं देवमित्रं निजासने ।
वार्धके मुनिवृत्त्यैव नयन् कालं वनं ययौ ॥१४॥

---

१. शूद्रक ने स्वीय मृच्छकटिक के आरम्भ में अपना चरित इस प्रकार लिखा है—

ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षाम् २५
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगत तिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य ॥
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेनेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः ॥
समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनं च ।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव ॥ ३०

३. कालिदासः—

तस्य[1]ाभवन्नरपतेः कविराप्तवर्णः,
श्री कालिदास[2] इति योऽप्रतिमप्रभावः।
दुष्यन्तभूपतिकथां प्रणयप्रतिष्ठां,
५ रम्याभिनेयभरितां सरसां चकार ॥१५॥

शाकुन्तलेन स कविर्नाटकेनाप्तवान् यशः।
वस्तुरम्यं दर्शयन्ति त्रीण्यन्यानि[3] लघूनि च ॥१६॥

४. [अश्व] घोषः—

जन्मनार्योऽभवद् विद्वान् सौगतस्तर्कवारिधिः।
१० सौनन्द[4] बुद्धचरिते महाकाव्ये चकार यः ॥१७॥

तस्य शूरकवेर्घोष इति नामाभवत् ततम्।
धर्मव्याख्यानरूपान् स नव ग्रन्थानरीरचत् ॥१८॥

सौगतानां महासंसत् तुरीयाऽभून्महोज्ज्वला।
तस्यां सभ्यो बभूवायं विश्वविद्वच्छिरोमणिः ॥१९॥

---

१५ १. तस्य=शूद्रकस्य राज्ञः।

२. कालिदास नाम से प्रसिद्ध अनेक कवि हो चुके हैं। इसी प्रकरण के अन्त में हरिषेण को भी कालिदास नाम से स्मरण किया है (द्र० श्लोक २४)। संस्कृत साहित्य में तीन कालिदासों का वर्णन मिलता है—

एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
२० शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥

राजशेखर के नाम से उद्धृत (द्र० बलदेव उपाध्याय कृत संस्कृत कवि चर्चा, पृष्ठ ३५, प्र० सं०)। सम्प्रति कालिदास के नाम से प्रसिद्ध सभी ग्रन्थों को एक कवि विरचित मानने से ही कालिदास के काल के निर्धारण में कठिनाई हो रही है।

२५ ३. विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्र ये दो नाटक इस कालिदास के सम्प्रति उपलब्ध होते हैं। तीसरा नाटक सम्प्रति अनुपलब्ध है।

४. अश्वघोष के नाम से प्रसिद्ध काव्य का नाम 'सौन्दरानन्द' प्रसिद्ध है। क्या यहां छन्दोवश 'सौनन्द' लघुरूप में प्रयुक्त हुआ है अथवा इस नाम का कोई स्वतन्त्र काव्य था ?

५. हरिचन्द्रः—

निजकीर्त्तेर्वैजयन्तीं कर्णकीर्त्ति चकार यः ।
हरिचन्द्रो विजयते पाञ्चालक्षितपः[1] कविः ॥२०॥

६. मातृगुप्तः—

मातृगुप्तो जयति यः कविराजो न केवलम् ।
कश्मीरराजो[2]ऽप्यभवत् सरस्वत्याः प्रसादतः ॥२१॥

विधायशूद्रकजयं सर्गान्तानन्दमद्भुतम् ।
न्यदर्शयद् वीररसं कविरावन्तिकः कृतिः ॥२२॥

७. हरिषेणः—

तुङ्गं ह्यमात्यपदमाप्तयशः प्रसिद्धं,
भुक्त्वा चिरं पितुरिहास्ति सुहृन्ममायम् ।
सन्धौ च विग्रहकृतौ च महाधिकारी,
विज्ञः कुमारसचिवो नृपनीतिदक्षः ॥२३॥

काव्येन सोऽघ **रघुकार**[3] इति प्रसिद्धो,
यः **कालिदास** इति महार्हनामा ।
प्रामाण्यमाप्तवचनस्य च तस्य धर्म्ये,

---

१. हर्षचरित में हरिचन्द्र के विषय में लिखा है—

पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः ।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥

यहां 'भट्टार' शब्द के प्रयोग से हरिचन्द्र का राजा होना स्पष्टरूप से जाना जाता है ।

२. मातृगुप्त के काश्मीर देश के नृप होने का वर्णन कल्हण विरचित राजतरङ्गिणी में मिलता है ।

३. हरिषेण कवि को यहां 'रघुवंश' के रचयिता होने रघुकार और काव्य निर्माण अतिकुशल तथाप्रतिभावान् होने से सम्मानलब्ध कालिदास के नाम से प्रसिद्ध कहा है । कृष्णचरित के सम्पादक श्री पं० जीवराम कालिदास ने पृष्ठ ५८—६० तक हरिषेण विरचित शिलालेख और रघुवंश के अनेक पाठों की तुलना देकर दोनों के एककर्तृक होने की पुष्टि की है ।

ब्रह्मत्वमध्वरविधौ मम सर्वदैव ॥२४॥
चत्वार्यन्यानि काव्यानि व्यदधाच्चलघूनि यः ।
प्राभावयच्च मां कर्त्तुं कृष्णस्य चरितं शुभम् ॥२५॥
हरिषेण-कविर्वाग्मी शास्त्रशस्त्रविचक्षणः ।
५ यशोलभतकाव्यैः स्वैर्नाना चरितशोभनैः ॥२६॥
येषां न केवलं काव्यं श्रेष्ठं धर्मार्थं कामदम् ।
राजता वा राजनीतिरुपकर्त्री मनःस्थिता ॥२७॥
ते राजकवयोऽमात्याः शुद्धकर्मगुणैर्भुवि ।
वर्णिताष्टगुरवो दिङ्नागप्रतिपक्षिणः[1] ॥२८॥

१० ॥ इति श्री विक्रमाङ्कमहाराजाधिराजपरमभागवत-
श्रीसमुद्रगुप्तकृतौ कृष्णचरित प्रस्तावनायां
राजकविकीर्तनम् ॥

॥ अथ जीविकाकवयः ॥

....
....

---

१. यहां 'दिङ्नाग' शब्द से 'दिङ्नाग' नामा बौद्ध पण्डित अभिप्रेत नहीं
१५ है। 'दिङ्नाग' शब्द आठों दिशाओं में विद्यमान कवि समय रूप में प्रसिद्ध हस्ती का ग्रहण जानना चाहिये। हस्ती शब्द से 'आठ' संख्या का ग्रहण कवि समुदाय में प्रसिद्ध है। 'प्रतिपक्ष' शब्द केवल प्रतिद्वन्दी का ही वाचक नहीं है अपितु उपमा अर्थ में भी काव्यादर्श में प्रयुक्त है।

आठवां परिशिष्ट

पदप्रकृतिः संहिता

हमने 'व्या० शा० का इतिहास' के दूसरे भाग में पृष्ठ ३६२ पर प्रातिशाख्य ग्रन्थों का सम्बन्ध चरणों के साथ है अर्थात् एक चरणान्तर्गत जितनी शाखाएं हैं उन सब के साथ उस उस प्रातिशाख्य का सम्बन्ध है, केवल एक एक शाखा के साथ प्रातिशाख्यों का सम्बन्ध नहीं है। यह दर्शाने के लिये हमने निरुक्त १।१७ का वचन उद्धृत किया है—

पदप्रकृतिः संहिता, पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।

प्रकृत में **पदप्रकृतिः संहिता** वचन विवेचनीय है। दुर्गाचार्यादि व्याख्याकारों ने इस वचन के दो अर्थ किये हैं—

१— **पदानां प्रकृतिः संहिता**—पदों की प्रकृति संहिता है। अर्थात् संहिता पाठ पदपाठ की प्रकृति है और पदपाठ विकृति है।

२— **पदानि प्रकृतिर्यस्याः सा संहिता**—पद प्रकृति हैं जिस की वह संहिता। इस अर्थ में पदपाठ प्रकृतिरूप है और संहिता विकृतिरूप।

इस द्वितीय अर्थ को लेकर अनेक विद्वन्मन्य यह कहते हैं कि पहले मन्त्र पद पाठ के रूप में थे। उनमें परस्पर सन्धि आदि करके संहिता-रूप दिया गया। इस पर विचार करने के लिये हमें वैदिक परम्परा पर भी विचार करना होगा।

वैदिक परम्परा में वेद का मुख्य रूप से तीन प्रकार से पाठ होता है—संहिता, पद, क्रम। क्रमपाठ के अनन्तर जटादि घनान्त अष्ट-विकृति युक्त भी पाठ होता है। विभिन्न संहिताओं के घनान्त वेद-पाठी अभी भी यत्र तत्र उपलब्ध हैं।

ऐतरेय आरण्यक ३।१।३ में वेद के **निर्भुज** और **प्रतृण्ण** पाठों का उल्लेख मिलता हैं। वहां कहा है—

यद्धि सन्धि वर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्। अथ यच्छुद्धे अक्षरे

अभिव्याहरति तत् प्रतृण्णस्य । अत्र उ एवोभयमन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति ।

अर्थात्—जो सन्धि करता है वह निर्भुज का रूप है। जो दो शुद्ध अक्षरों को बोलता है वह प्रतृण्ण का रूप है और जो सिद्ध पद स्वरूप के पश्चात् संहिता प्रवृत्त होती है वह दोनों के मध्यवर्त्ती होने से दोनों [पद और संहिता] को व्याप्त होता है। अर्थात् उसमें दोनों धर्म होते है। इसे क्रम पाठ अथवा क्रम संहिता कहा जाता है।

अब इन तीनों को स्पष्ट करते हैं—

१—**संहिता=निर्भुज**—इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु।

२—**पदपाठ=प्रतृण्ण**—इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा। वायवः। स्थ। देवः। वः। सविता। प्र। अर्पयतु।

३—**क्रमपाठ=उभयव्याप्त**—इषेत्वा। त्वोर्जे। ऊर्जेत्वा। त्वा-वायवः। वायवस्थ। स्थदेवः। देवो वः। वः सविता। सविताप्र। प्रार्पयतु॥

संहिता पाठ में **त्वा+ऊर्जे** में ओकार सन्धि, **वायवः स्थ** में विसर्ग का लोप, **देवः+वः** में ओकार और **प्र+अर्पयतु** में दीर्घ सन्धि हुई है।

पदपाठ में उक्त पदों की सन्धियों का विच्छेद करके प्रत्येक पद के आद्यन्त अक्षर के शुद्ध रूप में उच्चरित होते हैं।

क्रमपाठ में प्रथम पद को द्वितीय से मिलाकर, द्वितीय को तृतीय से मिलाकर, तृतीय को चतुर्थ से मिलाकर (इसी प्रकार आगे भी) जो पाठ होता है उसमें दो पदों के मध्य सन्धि संभाव्य हो तो वह हो जाती है। इस प्रकार मिले हुए दो पदों के समुदाय के आद्यन्त अक्षर शुद्ध बोले जाते हैं और मध्य में सन्धि होती है। इसलिये इसमें पद और संहिता दोनों के धर्मव्याप्त होने से यह पाठ उभयव्याप्त कहाता है।

यह निदर्शन स्थूल दृष्टि से दर्शाया है। वस्तुतः संहिता का लक्षण है—**परः सन्निकर्षः संहिता** (अष्टा० १।४। १०९)। इस लक्षण के संहिता पाठ में प्रत्येक पद अक्षर का अत्यन्त सन्निकृष्टता=समीपता=अव्यवधानता से उच्चारण किया

जाता है। यहां पर: सन्निकर्ष=अत्यन्त समीता से अभिप्राय है दो वर्णों की अभिव्यक्ति के लिये जो दो प्रयत्न होते हैं उन के मध्य में जो अत्यन्त सूक्ष्म काल का व्यवधान करना पड़ता है उतना ही स्वल्प-विराम दो पदों के मध्य में भी किया जाता है। इसलिये जैसे एक पद के सभी वर्णों के ऊपर एक शिरोरेखा देते हैं (यथा—अर्पयतु में) ५ उसी प्रकार मन्त्र में जहां तक नियत विराम न आवे, सभी पद एक शिरोरेखा के नीचे लिखे जाते हैं। यथा—**इषेत्वोर्जेत्वावायवस्थदेवोवः सविताप्रार्पयतु** इत्यादि।

संहिता पाठ में केवल वर्णों की ही सन्धि नहीं होती है, अपितु उदात्तादि स्वरों में भी विकार होते हैं। १०

भारतीय समस्त वैदिक सम्प्रदाय इस बात में सहमत हैं कि मन्त्रों का संहितापाठ अपौरुषेय वा प्राचीन है। उसी पाठ का शाकल्यादि ऋषिमुनियों ने पदपाठ का प्रवचन किया अर्थात् पदच्छेद किया। अतः वह आर्षेय वा औत्तरकालिक है। इसी पदच्छेद को आधार बना कर दो दो पदों का पूर्वनिदर्शन के अनुसार क्रमपाठ अथवा क्रम- १५ संहिता का प्रवचन किया।

प्रातिशाख्यों के उपदेश का प्रयोजन पदपाठ और क्रमपाठ है। इसलिये **पदप्रकृतिः संहिता** लक्षण का मूल अर्थ 'पद है प्रकृति जिसकी वह संहिता' ही है। प्रातिशाख्यों द्वारा सन्धि आदि के नियमों का वर्णन क्रमपाठ वा क्रमसंहिता में दो दो पदों के संयोग में होने वाले २० वर्ण विकार और स्वर विकार के निदर्शनार्थ ही है। **पदप्रकृतिः संहिता** का उक्त बहुव्रीहि समास वाला अर्थ ही निरुक्त में अभिप्रेत है यह बात यास्क के **पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि** इस उत्तर वचन से व्यक्त है क्योंकि इस वचन का सर्वसम्मत अर्थ है—पद हैं प्रकृति जिनकी, ऐसे सर्व चरणों के पार्षद=प्रातिशाख्य हैं।' अर्थात् प्राति- २५ शाख्यकार पदों को प्रकृति मान कर अपने शास्त्र का प्रवचन करते हैं।

संहितापाठ, पदपाठ और क्रमपाठ तीनों का भिन्न भिन्न प्रयोजन है—अध्ययन में और यज्ञों में मन्त्र संहिता रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। पदपाठ का प्रयोजन है पदच्छेद, अवग्रह और प्रगृह्यत्व के निर्देश ३०

द्वारा पदों के स्वरूप का ज्ञान कराना है। यह मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में परम सहायक है। अतः पदपाठ का मूल प्रयोजन है—मन्त्रों का अर्थ-ज्ञान कराना। क्रमपाठ का प्रयोजन है पूर्वापर पदों की स्मृति। इसी-लिये कहा है—**क्रमः स्मृतिप्रयोजनः** (शु० यजुः प्राति० ४।१८२)।
५ यह स्मरण मन्त्रपाठ की स्मृति में परम सहायक होता है।

जो विदेशी विद्वान वा उनके अनुकर्ता भारतीय विद्वान् हैं उनसे हम पूछना चाहते हैं कि यदि मन्त्रों का पदपाठ पुराना है और संहितापाठ उन पदों में सन्धि आदि कार्य करके निष्पन्न किये गये तो वे बताएं कि कौन सा पदपाठ संहितापाठ से प्राचीन था। उदा-
१० हरण के लिये हम दो उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१—ऋग्वेद में एक मन्त्र है—**अरुणोमासकृद्वृकः** (१।१०५।१८)। इस मन्त्र का शाकल्यकृत पदपाठ है—**अरुणः। मा। सकृत्। वृकः।** क्या यही पदपाद संहितापाठ का मूल था? यदि यही पदपाठ मूल था तो यास्क का निरुक्त ५।२१ में **अरुणः। मासकृत्। वृकः**
१५ आदि दर्शाया पदपाठ कैसे उपपन्न होगा?

२—ऋग्वेद १०।२९।१ का मन्त्र है—**वनेनवायोन्यधायिचाकन्।** इसका शाकल्य कृत पदपाद है—**वने। न। वा। यः। नि। अधायि। चाकन्।** यदि यही पदपाठ मन्त्र की संहितापाठ का मूल है तो यास्क का वा इति य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं
२० त्वेवमाख्यातमभविष्यत् (निरुक्त ६।२८) अर्थात् शाकल्य ने **वा** और **यः** दो पद माने हैं। ऐसा मानने पर 'यः' के योग में '**अधायि**' क्रिया को उदात्त होना चाहिये परन्तु मन्त्र में अनुदात्त है। इसलिये यास्क ने **वायः** एक पद माना है—**वायः—वेः पुत्रः**। यहां विचारना होगा कि **वनेनवायः** मन्त्र में मूल पदपाठ जिससे संहिता पाठ रचा गया
२५ कौन सा था?

उक्त उदाहरणों में दोनों पदपाठों को तो संहिता का मूल स्वीकार कर नहीं सकते एक को ही मूल पद स्वीकार करना होगा।

भारतीय परम्परा के अनुसार मन्त्र का मूलपाठ संहिता पाठ मानने पर कोई दोष नहीं आता पदकार या व्याख्यात स्वरशास्त्र को
३० ध्यान में रखकर विविध पदच्छेद कर सकता है। अतः प्रथम मन्त्र में

स्वरशास्त्र के किसी नियम का विरोध न होने से '**मा । सकृत्**' अथवा '**मासकृत्**' दोनों पदच्छेद स्वीकार किये जा सकते हैं। इतना ही नहीं, यदि कोई पदकार असावधानता से स्वरशास्त्र का ध्यान न रखकर अयुक्त पदच्छेद कर दे तो उसको अप्रामाणिक भी माना जा सकता है। यह द्वितीय उदाहरण में यास्क के वचन से स्पष्ट है। ५

इस विवेचना से स्पष्ट है कि जो विद्वान् **पदप्रकृतिः संहिता** लक्षण के अनुसार तथा प्रातिशाख्यों में सन्धि के नियमों का उल्लेख होने से यह मानते है कि मन्त्र पहले पदरूप में थे, उनका संहितापाठ पीछे से बनाया गया है। यह मत सर्वथा अयुक्त है। **पदप्रकृतिः संहिता** लक्षण तथा प्रातिशाख्यों में विहित सन्धि के नियम क्रमसंहिता के लिये हैं। १० यह प्रातिशाख्यों के गम्भीर अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

नौवां परिशिष्ट

सं० व्या० शास्त्र के इतिहास पर

श्री जार्ज कार्डोना का अभिमत

[श्री जार्ज कार्डोना का 'पाणिनि ए सर्वे आफ रिसर्च' (=पाणिनि,
५ अनुसन्धान का सर्वेक्षण) नामक ग्रन्थ सन् १६७६ में प्रकाशित हुआ है। उसमें
देश विदेश के जिन व्यक्तियों ने पाणिनीय व्याकरण पर कार्य किया है, चाहे वह
लेख निबन्ध अथवा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ है उस सब पर लिखा है।
यह ग्रन्थ एक प्रकार से पाणिनीय व्याकरण सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य का कोश
है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में मेरे द्वारा लिखित
१० 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' और सम्पादित वा प्रकाशित ग्रन्थों की
भूमिका और टिप्पणियों तक पर अपना अभिमत प्रकाशित किया है।

यद्यपि उनका अभिमत सर्वत्र मुझे स्वीकृत नहीं है, विशेष कर काल
सम्बन्धी अभिमत। पुनरपि प्रत्येक ग्रन्थ, लेख वा निबन्ध पर उन्होंने जिस
परिश्रम से विचार किया है, वह प्रत्येक भावी पक्ष-विपक्ष के विद्वानों के लिये
१५ उपयोगी है। इस कारण मैं अपने कार्य के सम्बन्ध में लिखे गये उनके अभिमत
को याथातथ्य रूप में उपस्थित कर रहा हूं।

श्री जार्ज कार्डोना ने मेरे 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के सन्
१६७३ ई० के छपे संस्करण का उपयोग किया है। सर्वत्र उसी की पृष्ठ संख्या
दी है। प्रस्तुत संस्करण में उक्त पृष्ठ संख्या के परिवर्तित हो जाने से पाठकों
२० की सुगमता के लिये नीचे टिप्पणी में प्रस्तुत नये संस्करण (सन् १६८४ ई०)
की पृष्ठ संख्या भी दे रहा हूं।

प्रत्येक सन्दर्भ के आरम्भ में ( ) कोष्ठक में दी गई पृष्ठ संख्या
'पाणिनिः ए सर्वे आफ रिसर्च' ग्रन्थ की है। सन्दर्भ में किसी शब्द के ऊपर
दी गई संख्या उनकी टिप्पणी की संख्या है। उस टिप्पणी का पाठ भी उस
२५ उस सन्दर्भ के आगे ही ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या देकर दे दिया है। टिप्पणी वाले
संदर्भ के आरम्भ में तीन संख्याएं हैं। प्रथम ( ) कोष्ठक में निर्दिष्ट

संख्या उस सन्दर्भ के पृष्ठ की है, जिस पर टिप्पणी लिखी है। दूसरी संख्या टिप्पणी की है और तीसरी ( ) कोष्ठक में निर्दिष्ट संख्या उनके ग्रन्थ के उस पृष्ठ की है जिसमें वह टिप्पणी छपी है। इसी प्रकार मेरे अभिमत का निर्देश करके ( ) कोष्ठक में जो संख्याएं दी हैं उनमें प्रथम प्रकाशन काल के निर्देशार्थ है। दूसरी संख्या ग्रन्थ के भाग को निर्दशित करती है और तीसरी संख्या उस भाग के पृष्ठ की है। जहां एक ही संख्या है, वह ग्रन्थ के प्रकाशन काल की है।]

१. (पृष्ठ १३९-१४०)—आज तक लिखा गया संस्कृत वैयाकरणों का सब से अधिक पूर्ण इतिहास युधिष्ठिर मीमांसक का है (१९७३), जिस में कालक्रम तथा ग्रन्थपाठ सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर पूर्ण प्रमाणों के साथ विचार किया गया है। यह उपयोगी एवं सुव्यवस्थित सूचना का आकर है।[1] हिन्दी में संस्कृत व्याकरण का अन्य इतिहास सत्यकाम वर्मा (१९७१) का है जो उतना प्रमाणपूर्ण नहीं है जितना युधिष्ठिर मीमांसक का ग्रन्थ है। युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा अपने इतिहास के पूर्व संस्करण में प्रतिपादित मान्यताओं से वर्मा प्रायः सहमत नहीं है और यु० मी० ने अपने आधुनिकतम संस्करण में इन शङ्काओं का समाधान करने का प्रयत्न किया है।

२. (पृ० १३९) टि० १ पृ० ३१५—युधिष्ठिर मीमांसक ने पाणिनि तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थकारों को अत्यन्त प्राचीन तिथियों में स्थापित किया है, जो सार्वलौकिक स्वीकृति के योग्य नहीं हैं। उनकी अतिराष्ट्रवादी भाषा में, पाश्चात्य भाषाविदों की प्रत्यालोचना (१९७३ : १ : १४[1]) और भारतीय मान्यताओं तथा पाश्चात्य एवं तदनुयायिओं की मान्यताओं के विरोध प्रतिपादन पर उनका आग्रह सर्वथा उपेक्षितव्य है।

३. (पृ० १४६)—आपिशलि काश्यप, गार्ग्य, गालव, चक्रवर्मन्, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक, स्फोटायन। इन के विषय में सर्वाधिक पूर्ण, जानकारी का सर्वेक्षण यु० मी० (१९७३ : १ १३४-७७£) में प्रकाशित हुआ है।

---

[1] प्रस्तुत सं० में पृष्ठ १५। £ प्रस्तुत सं० पृष्ठ १४६-१९२॥

५ १० १५ २० २५ ३०

४. (पृ० १४७) टि० ३० (पृ० ३१८)—वस्तुतः पतञ्जलि सूत्र को उद्धृत नहीं करता, जिसको उत्तरवर्ती टीकाकारों ने 'धेनोरनञः' के रूप में उद्धृत किया है। इस तथा आपिशलि के अन्य सूत्रों के लिए, जो टीकाओं में उद्धृत हैं, देखो यु० मी० (१९७३ : १ : ५ १३९-४०$)।

५. (पृ० १४७) टि० ३१ (पृ० ३१८)—शाकटायन के तथाकथित अन्य विचारों के लिए देखो यु० मी० (१९७३ : १ : १६४-६७*)।

६. (पृ० १४७)—कात्यायन और पतञ्जलि भी पूर्व व्याकरणों १० के लिए पूर्वसूत्र शब्द का प्रयोग करते हैं। देखो कीलहार्न, यु० मी० (१९७३ : १ : २४१❀)।

७. (पृ० १४८)—टि० ३४ (पृ० ३१८)—रघुवीर (१९३४) तथा यु० मी० सम्पादित (१९६७/८)। वान नूतेन (१९७३) द्वारा पुनः प्रकाशित। नूतेन का ग्रन्थ, जिसमें यु० मी० उल्लिखित नहीं, १५ यु० मी० संस्करण की अपेक्षा घटिया है। उदाहरणार्थ—आरम्भ में सूची है। यु० मी० के ग्रन्थ में (१९६७/८ : १३ ♣) अंशतः पाठ है—'स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधानिलः स्थानं पीडयति।' नूतेन का पाठ है—'...प्रयत्न एष द्विधानिलस्थानं पीडयति'।

८. (पृ० १४८)—यु० मी० (१९६७/८ : भूमिका, पृ० २-४†, २० १९७३ : १ : १४४-४५†) सिद्ध करते हैं कि यह पाठ [अर्थात्

$ प्रस्तुत सं० पृष्ठ १५१-१५२।

* प्रस्तुत सं० पृष्ठ १७८—१८१। ❀ प्रस्तुत सं० पृष्ठ २६०-२६१।

♣ यह पृष्ठ संख्या 'शिक्षा-सूत्राणि' की है। सन्दर्भ के आरम्भ में डा० रघुवीर का नाम निर्दिष्ट होने से विदित होता है कि श्री जार्ज कार्डोना का २५ आपिशलिशिक्षा के पाठ की ओर संकेत है। परन्तु शिक्षासूत्राणि की जो पृष्ठ संख्या १३ दी है, उस पर पाणिनीय शिक्षा का पाठ है। आपिशलिशिक्षा में यह पाठ पृष्ठ १ पर है। हमारा विचार है—'१३' निर्देश के स्थान पर '१ : ३' निर्देश होना चाहिये। १ संख्या पृष्ठ की है और ३ संख्या सूत्र की।

† यहां पृष्ठ संख्या २-४ 'शिक्षा-सूत्राणि' की भूमिका की है। दूसरी ३० संख्या सं० व्या० शास्त्र के इति० की है। द्र० प्रस्तुत सं० पृष्ठ १५७-१५८।

आपिशलशिक्षा] पाणिनि-उल्लिखित प्राचीन वैयाकरण आपिशलि की कृति है। जहां तक मैं समझता हूं, ऐसा कोई ठोस साक्ष्य नहीं है जो इसे अन्यथा सिद्ध कर सके[३५]।

९. (पृ० १४८) टि० ३५ (पृ० ३१८)—वान् नूतेन (१९७३: ४०९) भी इस पाठ को प्राचीन समझता है। मैं कहता हूं 'जो इसे ५ अन्यथा सिद्ध कर सके', क्योंकि इस पाठ में ऐसे प्रयोग हैं जिन से मुझे सन्देह होता है कि ग्रन्थ उतना प्राचीन नहीं है जितना घोषित किया गया है। इस प्रकार १.१७-१८ में एत् ऐत ओत् औत् (यु० मी० १९६७।८ : २) शब्द प्रयुक्त हैं जो ए ऐ ओ औ के सङ्केत हैं। कात्यायन तथा पतञ्जलि (कीलहार्न-१८८०-८५ : १ : २२.१-२४) १० ने इन स्वरों के तपर-अतपर-करण पर विचार किया है। यह सन्देह सम्भव है कि आपिशलि शिक्षा ने महाभाष्य में विचारित विकल्प में से एक को ग्रहण कर लिया हो। परन्तु मैं सम्प्रति इसे सिद्ध नहीं कर सकता†।

१०. (पृ० १४८)—यु० मी० १९६७/८ : भूमिका पृ० ८$, १५ १९७३ : ३ : १९४-९५) ने सुझाव दिया है उणादि सूत्रों का पञ्च-पादी पाठ भी आपिशलि प्रोक्त है। उन के हेतु अग्रोक्त हैं—आपि० शि० में अनुनासिकों का क्रम है : (१) ञ म ङ ण न। पाणिनीय

---

† कात्यायन और पतञ्जलि ने 'ए ऐ ओ औ' के तपर-अतपर-करण पर जो विचार किया है वह कल्पनामात्र नहीं है। अपितु जैसे अतपर-करण २० पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र में है वैसे ही तपरकरण भी कहीं निर्दिष्ट होना चाहिये। आपिशलशिक्षा में तपरकरण दृष्ट होने से यह संभावना होती है कि आपि-शल के प्रत्याहार सूत्र का पाठ 'एत् ओत् ऐत् औत् च' रहा होगा। उसी को ध्यान में रखकर कात्यायन और पतञ्जलि ने तपर-अतपर-करण पर विचार किया है। आपिशिलशिक्षा में तपरकरण तत्कालमात्र वर्ण के ग्रहण, (द्र० २५ अष्टा० १।१।७०) के लिये नहीं है अपितु मुखसुखार्थ अथवा सन्ध्यभावार्थ है।

$ श्री जार्ज कार्डोना 'भूमिका पृष्ठ ८' द्वारा मेरे किस ग्रन्थ की भूमिका का निर्देश किया है यह ज्ञात नहीं हो सका। इसी के आगे '१९७३, ३, १९४-९५' पृष्ठ संख्या का निर्देश है। यह 'सं० व्या० शास्त्र का इतिहास' के दूसरे भाग की पृष्ठ संख्या है यहां भाग '३' के स्थान पर '२' होना चाहिये। ३०

शिव सूत्रों में भी यही क्रम है। परन्तु सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा में इन का क्रम है—(२) ङ ञ ण न म। यह सामान्य स्थानक्रमानुसार है : कण्ठ्य-तालव्य-मूर्धन्य-दन्त्य-ओष्ठ्य। क्रम (२) को प्रत्याहार 'ञम्', बनाने के लिए क्रम (१) में परिवर्त्तित कर दिया गया होगा।
५ यह प्रत्याहार उणादि सूत्रों (पञ्चपादी १.११३) में प्रयुक्त हुआ है। यह मानते हुए कि पाणिनीय शिक्षा का सूत्रपाठ पाणिनि-कृत है, तो यु० मी० निष्कर्ष निकालते हैं कि क्रम (१) जो शिवसूत्रों में उपलब्ध है, मूलतः आपिशलीय है जिससे पाणिनि ने ग्रहण किया है। अपि च, यतः 'ञम्' प्रत्याहार उणादिसूत्रों में प्रयुक्त हुआ है और (२) का
१० (१) में परिवर्त्तन करने का मात्र हेतु यह प्रत्याहार बनाना ही था, अतः प्रकृत उणादि सूत्र आपिशलि का ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त, उणादिसूत्रों का दशपादी पाठ पञ्चपादी पर आधृत है जो प्राचीन है। अतः पञ्चपादी आपिशलि का कहा जाना चाहिये। यु० मी० (१९७३ : ३ : १९५£) स्वीकार करते हैं—'यह हमारा
१५ अनुमान मात्र है। और वास्तव में जिस साक्ष्य पर यह निष्कर्ष आधृत है, वह क्षुद्र है। वस्तुतः मैं नहीं समझता कि यह साक्ष्य इस निष्कर्ष को सिद्ध करता है। क्रम (१) शिवसूत्रों में है, परन्तु क्रम (२) उस ग्रन्थ में विद्यमान है जिसका कर्ता विवादास्पद है, इतने मात्र से तत्काल यह स्वीकार करना सन्दिग्ध तथ्य है कि पूर्ववर्त्ती का ऋणी
२० होगा, जब कि वह अनेक सूत्रों में विद्यमान है जो स्पष्टतः पाणिनि के कहे जाते हैं। अपि च, उपर्युक्त हेतु का आधार यह कल्पना है कि (२) का (१) में परिवर्त्तन के 'ञम्' प्रत्याहार को बनाने के लिए है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि क्रम (१) को स्वीकार करने का केवल यही कारण है। पाणिनि ने (२) क्रम को इसलिए बदला कि 'प्रत्य-
२५ ङ्ङास्ते, कुर्वन्नास्ते' जैसे रूप सिद्ध हो सकें (८ ३.३२, ङमो ह्रस्वाद० से) और 'त्वम् आसे' जैसे रूपों में उस आगम की व्यावृत्ति हो सके जहां ह्रस्व अच् से उत्तर मकार विद्यमान है। ह्रस्व से उत्तर ङ ण-न, उन से परे अच् को आद्य आगम के विधान तथा ञ-म से उत्तर उसके प्रतिषेध के लिए पाणिनि को अनुनासिकों के क्रम में परिवर्तन करना

£ यहां भी पूर्ववत् भाग निर्देश में भूल है। द्र० पूर्व पृ० ११०, टि० $ का
३० उत्तरार्ध।

पड़ा जिस से 'ङम्' प्रत्याहार से 'ङणन' का ग्रहण किया जा सके। इस प्रकार उल्लिखित मूल कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है, तो उपर्युक्त हेतु की शक्ति क्षीण हो जाती हैं।

११. (पृ० १५१) – यु० मी० (१९७३ : १ : ८०-८८*) ने इन्द्र के काल[३७], उसके व्याकरण तथा तमिल व्याकरण पर उसके प्रभाव पर विचार किया है। ५

१२. (पृ० १५१)—टि० ३७ (पृ० ३१९)—जिसको उन्होंने १०००० वर्ष ई० पू० स्थापित किया है।

१३. (पृ० १५१-१५२) यु० मी० १९६५/६ ए० बी❀ ने

---

† श्री जार्ज कार्डोना ने जिन प्रयोगों की सिद्धि के लिये पाणिनीय प्रत्याहार सूत्र में 'ञ म ङ ण न' क्रम परिवर्तन को आवश्यक बताया है उन प्रयोगों की सिद्धि तो आपशलि आचार्य को भी करनी इष्ट थी। आपिशलि के शब्दानुशासन में प्रत्याहारों का निर्देश था, यह हमने आपिशलि के प्रकरण में विस्तार से दर्शाया है (द्र० भाग १, सं० ३, पृष्ठ २४५; सं० ४, पृष्ठ १५६ में सृष्टिधर द्वारा उद्धृत आपिशल-वचन)। आपिशलशिक्षा में वर्गक्रम का परित्याग करके **ञमङणनमाः स्वस्थाननासिकास्थनाश्च** (आ०शि० १।१९) में जो वर्णक्रम पढ़ा है वह इस बात का सुदृढ़ प्रमाण है कि आपिशलि के व्याकरण में 'ञमङणनम्' प्रत्याहार सूत्र था। शब्दानुशासन के पश्चात् शिक्षा का प्रवचन किया होगा, अतः उसमें भी आपाततः वर्गक्रम का वैपरीत्य सम्भव हो गया। अन्यथा आपिशलशिक्षा में वर्गक्रम के वैपरीत्य का कारण वादी को दर्शाना होगा। इस दृष्टि से हमारे हेतु की शक्ति क्षीण नहीं होती। पुनरपि पञ्चपादी उणादिपाठ के साक्षात् आपिशलि प्रोक्त प्रमाण उपलब्ध न होने से हमने स्पष्ट लिख दिया कि 'यह हमारा अनुमानमात्र है'। हम प्रमाणरहित कल्पना को अनृतभाषणवत् परित्याज्य समझते हैं। यह श्रेय तो अधिकतर उन पाश्चात्यों को ही प्राप्त है, जो वैदिक वाङ्मय की गरिमा का मूल्याङ्कन न करके उसे 'गडरियों के गीतों' के समान हेय बताने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। १० १५ २० २५

* प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ८७-९६।

❀ काशकृत्स्न के प्रकरण में 'सन् १९६५/६' के आगे 'बी' और 'ए' संकेत दिये हैं। इनमें से ए' का अभिप्राय हमारे द्वारा काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका के संस्कृत रूपान्तरित संस्करण से है। और 'बी' का उसकी भूमिका से है। ३०

काशकृत्स्न के कहे जाने वाले सन्दर्भांशों का सङ्कलन योग्यतापूर्वक किया है और उनकी व्याख्या रची है।—.... यु० मी० (१६६५/६ ए) ने टीका का संस्कृत में अनुवाद किया है। इस विद्वान् (१६६५/६ बी : भूमिका पृ० ८-११, १९७३ : १ : १११-१४†) ने इस काश-
५ कृत्स्न को पाणिनि से पूर्ववर्ती समझने के लिए ग्यारह हेतु भी उपस्थित किये हैं। मैं यहां उन में से कुछ पर विचार करता हूं, जिन को मैं प्रबलतम समझता हूं। [सं० १,२,४,५ का सारांश]......मैं नहीं समझता कि ऐसे हेतु इस बात (पूर्ववर्तित्व) को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। गणपाठ में काशकृत्स्न का पाठ इस से अधिक सिद्ध नहीं
१० करता कि पाणिनि काशकृत्स्न के व्याकरण से परिचित था, जैसे उस में यास्क की उपस्थिति सिद्ध करता है कि पाणिनि यास्क के निरुक्त को जानता था। जहां वेदान्तसूत्र का सम्बन्ध है, अभ्युपगमवाद से यह स्वीकार करते हुए कि वे अपने वर्तमान रूप में पाणिनि से पूर्व-कालिक हैं, जिसे सब विद्वान् स्वीकार नहीं करेंगे, इस से यह अनुगत
१५ नहीं होता कि उन में उल्लिखित काशकृत्स्न वही है जिस वैयाकरण ने प्रकृत ग्रन्थों की रचना की थी। पतञ्जलि के कथन के विषय में, इससे प्रकट होता है कि पतञ्जलि किसी प्राचीन आचार्य काशकृत्स्न द्वारा प्रोक्त व्याकरण से परिचित था$, परन्तु इससे यह प्रदर्शित नहीं होता कि जो पाठ हमारे पास हैं वे पाणिनि से पूर्वकालिक हैं।
२० अन्त में धातु पाठ सम्बन्धी हेतु सामान्य तथा अस्पष्ट है।

---

† प्रस्तुत सं० पृष्ठ १२१,१२५।

$ श्री जार्ज कार्डोना ने यह तो लिख दिया कि 'पतञ्जलि किसी प्राचीन आचार्य द्वारा प्रोक्त व्याकरण से परिचित था' परन्तु हमने पृष्ठ १०८ (प्रस्तुत सं० पृष्ठ ११८) पर लिखा है 'पतञ्जलि ने काशकृत्स्नि आचार्य प्रोक्त मीमांसा का असकृत् उल्लेख किया है। महाकवि भास ने यज्ञफल नाटक में काशकृत्स्न
२५ मीमांसा शास्त्र का उल्लेख किया है' (मूल पाठ नीचे टि० में दिये हैं) की ओर ध्यान नहीं दिया। सम्भव है जार्ज कार्डोना को काशकृत्स्नि और काश-कृत्स्न, जो भारतीय इतिहास के अनुसार (पाणिनि और पाणिन के समान) एक ही व्यक्ति के नाम हैं, स्वीकार्य न होंगे। यदि ऐसा है तो यह उनके गहन अनुशीलता के अभाव का द्योतक है। वस्तुतः वेदान्त दर्शन में स्मृत काशकृत्स्न
३० मीमांसा प्रवक्ता काशकृत्स्नि अपरनाम काशकृत्स्न ही है। भारतीय इतिहास में

१४. (पृ० १५२)—टि० ३६ (पृ० ३१६)—यु० मी० (१६६५/६ बी) ने उन पाश्चात्य विद्वानों पर कुछ कठोरता से आक्रमण किया है जो काशकृत्स्न धातुपाठ की प्राचीनता को स्वीकार नहीं करते। वे कहते है (१६६५/६ बी : २२)—'पाश्चात्यानां विदुषां… …उक्त्वापत्वपन्ति।' उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि कातन्त्र धातुपाठ काशकृत्स्न धातुपाठ का संक्षेप है; यु० मी० (१६-७३ : २ : २६-३२$) भी देखें। ५

१५. (पृ० १५४—टि० ४४ (पृ० ३१६)—यु० मी० (१६७३ : १ : २२०-२२†) का भी मत है कि पाणिनीय व्याकरण के तीन पाठ थे : पूर्व-पाठ जो काशिका वृत्ति का आधार था, उत्तर-पाठ जिस पर क्षीरस्वामी तथा अन्य कश्मीरियों ने टीका की तथा दक्षिण-पाठ जिस पर कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों की रचना की। वे यह भी मानते हैं कि इन पाठों में से प्रत्येक का वृद्ध एवं लघु पाठ था। १०

१६. (पृ० १५४-१५५)—ये परिवर्त्तन हैं—योगविभाग, शब्द-परिवर्त्तन, शब्द-परिवर्धन, सूत्र-परिवर्धन।… प्रायः विद्वान् कीलहार्न के निष्कर्षों को स्वीकार कर चुके हैं, उदाहरण—स० क० बेल्वाल्कर, रेणु, कपिलदेव❀। परन्तु यु० मी० (१६७३ : १ : २१६-२०‡) यह कहते हुए वैमत्य प्रकट करते हैं कि ये परिवर्त्तन काशिका के रचयिताओं द्वारा कृत नहीं कहे जा सकते, किन्तु उन बहुत पूर्ववर्त्ती वैयाकरणों तक जाने चाहियें। उन्होंने चार साक्ष्य (१६७३ : १ : १५ २०

जहां समान नामवाले अनेक व्यक्ति होते हैं वहां भेद-परिज्ञान के लिये कोई विशेषण अवश्य लगाया जाता है। यतः वैयाकरण काशकृत्स्न और वेदान्त-सूत्रोद्धृत काशकृत्स्न में नाम के साथ कोई भेदक विशेषण नहीं है, अतः दोनों ग्रन्थों में स्मृत एक ही व्यक्ति है। यह निर्विवाद है।

$ प्रस्तुत सं० पृष्ठ ३०-३३॥ † प्रस्तुत सं०, पृष्ठ २३७ २३६। २५

❀ यदि किन्हीं विद्वानों ने कीलहार्न के निष्कर्षों को विना परीक्षा पर-प्रत्ययनेय बुद्धि से स्वीकार कर लिया हो, तो अन्यों को भी स्वीकार कर लेना चाहिये, यह कोई हेतु नहीं।

‡ प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ २३४-२३७।

२१६-१८£) यह प्रदर्शित करने के लिए दिये हैं कि काशिका के रचनाकारों ने स्वयं महाभाष्य में कथनों के आधार पर ऐसे परिवर्त्तन नहीं किये। इन में से पहले पर विचार करें। काशिका ३।३।१२२ सूत्र पाठ है—**अध्यायन्यायोद्यावसंहाराधारावायाश्च**। परन्तु मूल सूत्र ५ रहा होगा—**अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च**, आधार एवं आवाय से रहित। ३।३।१२१ सूत्र पर कात्यायन अपने वार्त्तिक में सुझाव देता है कि घञ् विधायक सूत्र में 'अवहार, आधार, आवाय' का भी उप-संख्यान करना चाहिये। स्पष्ट है, काशिका इस सूत्र में अवहार का संग्रह नहीं करती। इसके वजाय 'च' से अनुक्त का संग्रह किया जाता १० है जिस से अवहार सिद्ध हो जाता है। कीलहार्न ने केवल यह कहा है कि 'अष्टा० ३।३।१२२ में मूलत: आधार तथा आवाय शब्द नहीं थे, जो पिछले सूत्र पर कात्यायन के वार्त्तिक से प्रविष्ट किये गये'...। दूसरी ओर यु० मी० (१९७३ : १ : २१६-१७*) का हेतु है कि कात्यायन के आधार पर काशिका प्रक्षेप नहीं कर सकती थी, क्योंकि १५ परिवर्धन ठीक वही नहीं है जिसका सुझाव वार्त्तिक में दिया गया है। इस हेतु की शक्तिक्षीण हो जाती है, यदि कोई यह स्वीकार करता है कि काशिका चन्द्रगोमी के व्याकरण से प्रभावित है। चन्द्रगोमी के सूत्र १।३।१०१ पर वृत्ति में ठीक वे ही शब्द अध्याय न्याय उद्याव संहार आधार आवाय दिये गये हैं जो काशिका सूत्र में हैं। टि० [मैं २० मानता हूं कि वृत्ति चन्द्रगोमीकृत है, जैसा कि प्राय: विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस विषय को मैं यहां विविक्त नहीं कर सकता, इस विषय पर आधुनिकतम अध्ययन बिर्वे (१९६८) का है] यु० मी० (१९७३: १ : २१८-२०❀) का हेतु है कि काशिका चान्द्र व्याकरण से प्रभा-वित नहीं है। प्रकृत पाणिनीय सूत्र के सम्बन्ध में वे कहते हैं २५ (१९७३ : १ : २१८ ·|·) कि चान्द्र व्याकरण में तत्सम सूत्र नहीं हैं, यद्यपि ३।३।१२१ पर कात्यायन के वार्त्तिक के कुछ शब्द वृत्ति में दिये गये हैं। इस हेतु की शक्ति क्षीण हो जाती है यदि कोई स्वीकार

£ प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ २३४-२३५।

* प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ २३४-२३५।

❀ प्रस्तुत संस्करण, २३५-२३७।

३० ·|· प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ २३६ (१)।

करता है कि चान्द्रव्याकरण पर स्वयं चन्द्र ने वृत्ति की रचना की। यु० मी० (१९७३ : १ : ५७६-७७£) स्वयं इस को स्वीकार करते हैं। यद्यपि यु० मी० के सम्पूर्ण हेतुओं के पूर्ण विमर्श की अनुमति स्थान नहीं देता, तथापि मैं यह कहना युक्त समझता हूं कि कीलहार्न के निष्कर्ष अस्वीकार्य नहीं प्रकट होते।* इन उदाहरणों में साक्ष्य ५

£ प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ६५४-६५५।

* हमने इस प्रकरण (पृष्ठ २१६-२२०; =प्रस्तुत सं० पृष्ठ २३४-२३७) में काशिकाकार ने चान्द्र व्याकरण के आधार पर पाणिनीय सूत्रपाठ में प्रक्षेप नहीं किये, इसमें ४ प्रमाण दिये हैं। उनमें से केवल प्रथम प्रमाण **अध्यायन्यायोद्याव०** पर ही श्री जार्ज कार्डोना ने कीलहार्न के निष्कर्षों को प्रमाणित करने के लिये छुआ है। क्योंकि उन्हें कुशकाशावलम्ब-न्याय से चान्द्रवृत्ति में ठीक उन्हीं शब्दों का संग्रह मिल गया जिन का पाठ काशिका के उक्त सूत्र (३।३।१२२) में है। दोनों में अवहार का निर्देश नहीं है। परन्तु कार्डोना महोदय ने प्रमाण सं० २-३-४ को छुआ ही नहीं। पाठकों से हमारा अनुरोध है कि इन पर पुनः विचार करें— १० १५

(क) काशिका ३।१।१२६ का सूत्रपाठ है **आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमश्च।** चन्द्राचार्य का (१।१।१३३) का सूत्र है—**आसुयुवपिरपिलपित्रपिचमिदभः।** चन्द्र के सूत्रपाठ में वार्तिककारोक्त 'लपि' 'दभि' दोनों का पाठ है। काशिका के पाठ में 'दभि' का पाठ नहीं है। यदि चान्द्रसूत्र के आधार पर काशिकाकार ने 'लपि' का प्रक्षेप कर दिया तो 'दभि' को क्यों छोड़ दिया? वस्तुतः यह चान्द्र सूत्रपाठ यह ज्ञापन करता है कि काशिकाकार द्वारा स्वीकृत सूत्र चान्द्र को प्राप्त था। उसमें वार्तिकोक्त दभि का निर्देश नहीं था, अतः उसने दभि को अन्त में सन्निविष्ट कर दिया। २०

(ख) हमारा ३ संख्या का प्रमाण (पृष्ठ २३४-२३५) पर पुनः पढ़ें और हमारें हेतु पर विचार करें। वस्तुतः यहां भी वस्तुस्थिति पूर्ववत् उलटी है। चन्द्राचार्य के सन्मुख काशिकाकार वाला पाठ विद्यमान था, परन्तु उससे शकल कर्दम शब्दों से पक्ष में अण् की प्राप्ति नहीं होती थी। इसलिये उसने उसके दो विभाग कर दिये **'लाक्षारोचनाट्ठक्, शकलकर्दमाद्वा'** (३।१।१-२)। यदि काशिकाकार को चान्द्र सूत्रों के अनुसार ही प्रक्षेप करना था तो उसे प्रथम सूत्र २५

स्पष्ट है। कात्यायन तथा पतञ्जलि को ज्ञात सूत्रपाठ काशिका में स्वीकृत पाठ से भिन्न है और कोई परिवर्तन के स्रोत को खोज सकता है। दूसरे अल्पप्रमाण सिद्ध प्रक्षेप सुझाये गये हैं।

१७. (पृ० १५५)—टि० ५५ (पृ० ३२०)—ध्यान रहे कि
५ रा० शं० भट्टाचार्य—[बिर्वे द्वारा प्रत्याख्यात, स० बहुलिकर भी बिर्वे से सहमत] ये ही उपाय यु० मी० (१९७३ : १ : २३०-३५) ने भी उपस्थित किये हैं।

१८. (पृ० १६०)—यु० मी० (१९७३ : २ : १९५$) यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि शिवसूत्रों की रचना पाणिनि ने की, तथापि
१० उन का सुझाव है कि इन में से एक सूत्र अर्थात् 'ञमङणनम्', आपिशलि से लिया गया था। यह मत यु० मी० की इस मान्यता पर आधृत है कि पाणिनीय शिक्षा का सूत्रपाठ पाणिनिकृत है। परन्तु यह सन्दिग्ध हैं, देखें खण्ड ३.१.४४ बी (पृ० १७९-८२+)।

१९. (पृ० १६१)—[धात्वर्थ-निर्देश]—इस विषय से सम्बद्ध

---

१५ में **लाक्षारोचनाशकलकर्दमाट् ठक्** और **शकलकर्दमादणपीष्यते** ऐसा द्रविड़ प्राणायाम करने की क्या आवश्यकता थी ?

(ग) संख्या ४ का प्रमाण तो भेर्याघात के समान स्पष्ट घोषणा करता है कि काशिकाकार चान्द्रसूत्र वा उसकी वृत्ति का अनुसरण नहीं करता, अन्यथा वह काशिका ७।२।४९ में चान्द्रसूत्र में पठित तनि पति दरिद्रा धातुओं को
२० सूत्र में पढ़कर '**केचिदत्र भरज्ञपिसनितनिपतिदरिद्राणाम्**' इति पठन्ति लिखकर अपने सूत्र पाठ की शुद्धता की घोषणा न करता।

इन सुदृढ़ प्रमाणों के विद्यमान होते हुए और उन पर यथोचित विचार न करके कीलहार्न की मान्यता की प्रामाणिकता का डिण्डिम घोष करने में जार्ज कार्डोना का क्या प्रयोजन है ? यह वे ही जानते होंगे। वस्तुतः कीलहार्न आदि
२५ सभी विद्वान् हरदत्त भट्टोजिदीक्षित आदि के अविचारित रमणीय लेखों से प्रभावित थे। उन्होंने इस विषय में गहन अनुसन्धान ही नहीं किया।

$ प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ २०८।

+ यह पृष्ठ संख्या 'पाणिनिः ए सर्वे आफ रिसर्च' ग्रन्थ की है।

मुख्य साक्ष्य यु० मी० (१९७३ : २ : ५१-५८✡) ने सुसंगृहीत किये हैं।[८२]

(पृष्ठ १६१) टि० ८२ (पृ० ३२२-२३)—यु० मी० के संक्षिप्त संग्रह का संस्कृत रूपान्तर द्वारकादास शास्त्री (१९६४ : भूमिका पृ० ४-८) ने दिया है। ५

२०. (पृ० १६२-१६३)—परन्तु यु० मी० (१९७३ : २ : ५४-५८†) ने सिद्ध किया है कि अर्थयुक्त धातुपाठ पाणिनि प्रोक्त होना चाहिये। जिन हेतुओं को उन्होंने दिया है, उन में से अधिकांश मुझे मान्य नहीं। उन में से एक पर विचार करें। यु० मी० ने पतञ्जलि का कथन उद्धृत किया है—'**वपिः प्रकिरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते।**' १० यु० मी० (१९७३ : २ : ५४♣) टिप्पणी करते हैं कि 'दृष्ट' वर्तते' का पर्याय नहीं है और कहते हैं—'अतः यहां जिन धात्वर्थों को दृष्ट कहा जाता है, वे धातुपाठ में पठित हैं अथवा धातुपाठ में देखे गये हैं और जिन के लिए वर्तते का प्रयोग किया है, वे लोक में व्यवहृत हैं, यही अभिप्राय इस वचन का है।' प्रकृत वाक्य से अनिवार्यतया यह १५ निष्कर्ष नहीं निकलता। प्रकरण है—क्या उपसर्गों का अपना स्वतन्त्र अर्थ है या धातुओं के, जो बह्वर्थ होती हैं, अर्थों के द्योतक हैं? द्वितीय पक्ष को दिखाने के लिए धातुओं की एक सरणि उपस्थित की गई है। उदाहरणार्थ, कृ का अर्थ न केवल करना ही है अपितु निर्मलीकरण एवं निक्षेपण भी है। अतः इस प्रकरण में प्रयुक्त 'दृष्ट' शब्द २० को केवल विशिष्ट अर्थों में दिखाई देने वाली धातुओं के संकेत के लिए प्रयुक्त हुआ माना जा सकता है, न कि अनिवार्यरूप से धातुपाठ में अर्थनिर्देशार्थ। परन्तु यु० मी० (१९७३ : २ : ५४£) द्वारा उद्धृत एक साक्ष्य ऐसा है जिसे सरलता से निरस्त नहीं किया जा सकता। पतञ्जलि ने १।३।७ के भाष्य में कहा है कि आचार्य पाणिनि ने कुछ २५ धातुओं को अर्थ-सहित पढ़ा है, जैसे उबुन्दिर् निशामने, स्कन्दिर् गति-

---

✡ प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५२-६०।

† प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५५-६०।

♣ प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५६। ३०

£ प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ ५५।

शोषणयो:। इस सन्दर्भ पर उद्योत में नागेश की टिप्पणी है कि इस महाभाष्य सन्दर्भ से प्रकट होता है कि प्राचीन धातुपाठ में कुछ धातुएं वस्तुतः अर्थसहित पढ़ी गई थीं। और पतञ्जलि के उद्धरण धातुपाठ के अर्वाचीन पाठों में धातुओं एवं अर्थों के निर्देश प्रकार के ५ अनुरूप है। लिबिश ने इस पर ध्यान दिया था और हस्तलेख के पाठ के आधार पर सुझाव दिया था कि 'निशामने', 'गतिशोषणयो:' सप्तम्यन्तरूप पश्चात्-कालिक अर्थ हैं जो महाभाष्य के पाठ में प्रविष्ट हो गये हैं$।

२१. (पृ० १६४)—केवल आधुनिक विद्वान् ही यह सुझाव नहीं १० देते कि धातुपाठ पाणिनि प्रणीत नहीं है। जिनेन्द्रबुद्धि भी ऐसा ही कहता है। यु० मी० (१९७३ : २ : ४३-५१£) ने उपर्युक्त सन्दर्भ दिये हैं और प्रतिहेतु उपस्थित किये हैं।

२२. (पृ० १६५)—यु० मी० (१९७३ : २ : १४१-४६†) ने गणपाठ के पाणिनि प्रोक्तत्व के पक्ष-विपक्ष में हेतुओं को लिया है १५ और निष्कर्ष निकाला है कि यह पाणिनि प्रोक्त है। मैं इस निष्कर्ष से सहमत हूं।

२३. (पृ० १७०)—यु० मी० (१९४३ : भूमिका पृ० २९✪; १९७३ : २ : २२९-३१*) ने यह दिखाने के लिए साक्ष्य उपस्थित किया है कि दशपादी पाठ पञ्चपादी से उत्तरवर्त्ती है और वस्तुतः २० उसी पर आधृत है। मैं समझता हूं कि यह साक्ष्य स्वीकरणीय है।

२४. (पृ० १७३)—यु० मी० (१९४३ भूमिका पृ० ११,२६❀) ने अपने पूर्व ग्रन्थ में स्वीकार किया है कि वे उणादि सूत्र के प्रवक्ता का निश्चय नहीं कर सके। पश्चात् उन्होंने मत व्यक्त किया (१९७३ :

$ हम लिबिश के मत से सहमत नहीं, क्योंकि यह पाणिनीय परम्परा के २५ विरुद्ध है। द्र० प्रस्तुत सं० पृष्ठ ५६-६०।

£ प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ ४४-५२।

† प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ १५२-१५८।

✪ यह दशपाद्युणादिवृत्ति की भूमिका की पृष्ठ संख्या है।

* प्रस्तुत संस्करण भाग २, पृष्ठ २४५-२४७।

❀ यह दशपाद्युणादिवृत्ति की भूमिका की पृष्ठ सख्या है।

३०

१ : १४४, २ : २०१†) कि पञ्चपादी आपिशलि प्रोक्त है तथा दशपादी स्वयं पाणिनि प्रोक्त। परन्तु यु० मी० स्वीकार करते हैं कि यह केवल मत है।

२५. (पृ० १७६)– परन्तु कपिलदेव शास्त्री और यु० मी० (१९७३ : २ : ३१७$) ने एक साक्ष्य प्रस्तुत किया है जो उन के ५ मतानुसार फिट् सूत्रों को पाणिनि से पूर्ववर्त्ती स्थापित करता है। वह है—पाणिनि का प्रत्याहार सूत्र 'ऐ औ च्' च् अनुबन्धयुक्त है। चन्द्रगोमी के १३ वें प्रत्याहार सूत्र पर वृत्ति कहती है कि पूर्व व्याकरण में इसके स्थान पर 'ऐ औ ष्' ष्-अनुबन्धयुक्त सूत्र था। उदाहरण हैं—फिट् २।४; २।१९ जिन में द्वयष्, बह्वष् प्रयुक्त हुए हैं १० जो पाणिनि द्वयच्, बह्वच् के समान हैं। यह उदाहरण फिट् के पाणिनि-पूर्ववर्तित्व विषयक सन्देह को दूर कर देता है। परन्तु न तो क० दे० शास्त्री ने, न ही यु० मी० ने कीलहार्न प्रदत्त साक्ष्य के साथ इस का समन्वय किया है। [कील०—फिट् लुबन्तस्योपमेयनामधेयस्य (२।१६) पाणिनीय लुम्मनुष्ये (५।३।९८) को पूर्व कल्पित करके १५ प्रवृत्त होता है£] अपि च, इससे केवल यह प्रकट होता है कि चन्द्रगोमी ष्-अनुबन्ध को पूर्व व्याकरण में प्रयुक्त हुआ समझता है, इससे उक्त प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती।

कीलहार्न ने महा० ६।१।१२३ से निष्कर्ष निकाला है कि पतञ्जलि न तो फिष् संज्ञा को, न फिषोऽन्त उदात्त को जानता था। २० दूसरी ओर यु० मी० (१९७३ : २ : ३१५-१६※) महाभाष्य के

---

† प्रस्तुत संस्करण, भाग १, पृष्ठ १५७; भाग २, पृष्ठ २१५।

$ प्रस्तुत संस्करण भाग २ पृष्ठ ३५१,३५२।

£ प्रतीत होता है कि कीलहार्न ने फिट्सूत्रों के चार पादों को ही स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर उक्त निष्कर्ष निकाला है। जब कि हम अपने इतिहास में अनेक २५ प्रमाणों और हेतुओं के आधार पर यह प्रामाणित कर चुके हैं कि फिट्सूत्र किसी बृहत्तन्त्र का एक देश है। ऐसी अवस्था में **लुबन्तस्योपमेयनामधेयस्य** (फिट् २।१६) को पाणिनि के **लुम्मनुष्ये** (५।३।९८) सूत्र पर आश्रित मानना किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं हो सकता। अतः कीलहार्न का साक्ष्य साध्यसम है। इसके विपरीत हमारे मन्तव्य में किसी प्रकार का दोष नहीं आता। ३०

※ प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ ३५०-३५१।

उद्धरणों से स्थापित किया है कि पतञ्जलि फिट्सूत्रों से परिचित था... मेरे (कार्डोना) मत में फिट्सूत्र पाणिनि के उत्तरवर्ती हैं। पतञ्जलि ऐसे सूत्रों से परिचित था, सम्भव है वे ये ही हों या इनसे बहुत समान हों।

५ २६. (पृ० १७८)—यु० मी० (१९७३ : २ : २५६-५७*) का मत है कि [लिङ्गानुशासन] पाठ पाणिनि प्रोक्त है। उन्होंने अपने मत के समर्थन में दो प्रकार के साक्ष्य दिये हैं—प्रथम, व्याख्याकार इस को स्वीकार करते हैं [पदमञ्जरी]। द्वितीय, महाभाष्य से उद्धरण, जिस से प्रतीत होता है कि पाणिनि प्रोक्त कहे जाने वाले
१० लिङ्गानुशासन से कात्यायन तथा पतञ्जलि परिचित थे। कात्यायन (७।१।३३) अपने वार्त्तिक में कहता है—युष्मद् अस्मद् अलिङ्ग हैं, पतञ्जलि कहता है—अलिङ्गे युष्मदस्मदी। यु० मी० कहते हैं कि इस से प्रतीत होता है कि कात्यायन तथा पतञ्जलि लिङ्गानुशासन के सूत्र १८४ 'अव्ययं कति युष्मदस्मदः (अविशिष्टलिङ्गम्) से परि-
१५ चित थे। मैं इन हेतुओं को स्वीकरणीय नहीं समझता। हरदत्त के कथन से लिङ्गानुशासन का पाणिनीय व्याकरण ग्रन्थ सहायक अङ्गत्व सिद्ध होता है, इसये स्वयं पाणिनि का लिङ्गानुशासन-कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता†। महाभाष्य-सन्दर्भ से मात्र इतना द्योतित होता है कि कात्यायन एवं पतञ्जलि युष्मद्-अस्मद् के अलिङ्गत्व से परिचित थे।
२० उनके कथन से किसी भी प्रकार न तो यह सिद्ध होता है कि वे किसी लिङ्गानुशासन से उद्धृत कर रहे हैं, न ही यह कि वे पाणिनीय व्याकरण से सम्बद्ध किसी विशेष लिङ्गानुशासन से परिचित हैं।

---

* प्रस्तुत संस्करण, भाग २, पृष्ठ २७६।

† हरदत्त का वचन है—**अप्सुमनःसमासिकतावर्षाणां बहुत्वं चेति पाणि-**
२५ **नीयं सूत्रम्**। जार्ज कार्डोना ने इस का सीधा अर्थ स्वीकार न करके जो कल्पना की है, उसे कोई भी संस्कृतज्ञ विद्वान् स्वीकार नहीं कर सकता। हरदत्त के उद्धरण को प्रामाणिक मानने वा न मानने में तो प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है, परन्तु हरदत्त के वचन की अन्यथा व्याख्या करना अनुचित है। यह कार्य वही कर सकता है जो पक्ष प्रतिपक्ष पर विचार न करके पहले से यह
३० स्वीकार कर ले कि लिङ्गानुशासन पाणिनीय नहीं है।

२७. (पृ० १८०) टि० १३४ पृ० (३२६)—यु० मी० (१९६७।८ : भूमिका पृ० ६†; १९७३:३:६३$) का सुझाव है कि पद्यात्मक शिक्षा सूत्रात्मक शिक्षा पर आधृत है। परन्तु उन्होंने कोई ठोस हेतु नहीं दिये।

२८. (पृ० १८१)—यु० मी० (१९६७/८ भूमिका पृ० ७†) ने भी घोष के आक्षेपों का उत्तर दिया है। परन्तु यहां उन्होंने अपने विस्तृत हेतु नहीं दिये। इस के स्थान में, उन्होंने एक लेख£ का संकेत किया है, जो मुझे सुलभ नहीं हो सका, जिस में उन्होंने घोष के कथन का मिथ्यात्व दर्शाया है। ५

२९. (पृ० २४५) टि० ३४४ (पृ० ३४७)—राघवन (१९५०) ने रुय्यक के अलङ्कार सर्वस्व में प्रदीप के उद्धरण के आधार पर प्रदर्शित किया कि कैय्यट की उत्तरसीमा १०५० ई० है। यु० मी० (१९७३/१:३९३-९६‡) ने कैय्यट के काल विषयक साक्ष्य पर विचार किया है और उसे संवत् १०९० (१०३३।३४ ई०) स्थापित किया है। रेणु ने ११वीं शताब्दी को कैयट का उचित काल माना है और यही सामान्यतः मान्य काल है। यह सम्भव है कि कैयट इससे कुछ प्राचीन हो। १० १५

३०. (पृ० २४५) टि० ३४७ (पृ० ३४७)—यु० मी० (१९७३: १:३५९-४३३❀) ने महाभाष्य की टीका उपटीकाओं का विस्तृत विवरण दिया है। २०

३१. (पृ० २६२) टि० ३९५ (पृ० ३५२)—यु० मी० (१९७३: १:२३९-४०; ३:८२-९२*) ने द्वितीय सन्दर्भ में पाणिनि कृत कहे

---

† यह हमारे द्वारा सम्पादित 'शिक्षा-सूत्राणि' की भूमिका की पृष्ठ संख्या है। $ प्रस्तुत संस्करण, पृष्ठ संख्या ६३।

£ यह लेख पटना से प्रकाशित होने वाली 'साहित्य' नाम्नी पत्रिका के सन् १९५६ के अङ्क १ में छपा था। उसका शीर्षक है—'मूल पाणिनीय शिक्षा'। शीघ्र प्रकाशित होने वाले 'वेदाङ्ग-मीमांसा' ग्रन्थ में यह लेख छपेगा। २५

‡ प्रस्तुत संस्करण, भाग १, पृष्ठ ४२०-४२४।

❀ प्रस्तुत संस्करण, भाग १, पृष्ठ ३८५-४७४।

* प्रस्तुत संस्करण, भाग १, पृष्ठ २५८-२५९; भाग ३, पृष्ठ ८२-९२। ३०

जाने वाले जाम्बवती विजय काव्य से उपलभ्यमान सन्दर्भों को सुविधा पूर्वक संगृहीत किया है।

३२. (पृ० २६५) टि० ४०५ (पृ० ३५३)—यु० मी० (१९७३: १:३३७-५०*) ने पतञ्जलि के काल का निर्धारण करने के लिए ५ महाभाष्य तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त लगभग सभी साक्ष्यों पर विमर्श किया है। वे स्वीकार करते हैं कि पतञ्जलि पुष्यमित्र का समकालीन था। परन्तु उनका मत है कि पुष्यमित्र काल सामान्यतः स्वीकृत काल की अपेक्षा पर्याप्त प्राचीन है।

[निष्कर्ष:—इस प्रकार साक्ष्य पूर्णतः प्रमापक नहीं है, परन्तु १० गम्भीर विचार से यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि पतञ्जलि ई० पू० द्वितीय शताब्दी में विद्यमान था।] पृ० २६६† ।

[निष्कर्ष:—पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि के काल के लिए साक्ष्य पूर्णतः प्रमापक नहीं है और व्याख्या पर आश्रित है। परन्तु मैं समझता हूं कि एक बात निश्चित है और वह है कि उपलब्ध साक्ष्य १५ पाणिनि के काल को ई० पू० चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ या मध्य के पश्चात् ले जाने की अनुमति नहीं देता। पृ० २६८†]

[पाणिनि यास्क से पूर्ववर्त्ती है; थीमे आदि का यह मत सिद्ध नहीं। परन्तु पाणिनि-यास्क के पूर्वापरत्व के विषय में अभी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। पृ० २७२-७३†]

२० ३३. (पृ० २८४)—भागवृत्ति का काल नवीं शताब्दी युक्त प्रतीत होता है+ और कैयट कृत प्रदीप में विमलमिति के एक सम्भावित मत के संकेत (यु० मी० : १९६४/६५:१०-११÷) से इसको समर्थन मिलता है।[६६]

टि० ४६६ (पृ० ३५९)—यु० मी० (१९७३:१:४७१£) ने २५ इससे पूर्वकाल का ग्रहण किया है : सं० ७०२-७०५ (६५५-६५९ ई०)।

---

* प्रस्तुत संस्करण, भाग १, पृष्ठ ३६५-३७७।

† यह पृष्ठ संख्या 'पाणिनि: ए सर्वे आफ रिसर्च' ग्रन्थ की है।

+ यह जार्ज कार्डेना का मत है।

÷ यह पृष्ठ संख्या हमारे द्वारा संकलित वा प्रकाशित **भागवृत्ति-संकलनम्** ३० की है।

£ प्रस्तुत संस्करण, भाग १, पृष्ठ ५१४-५१५।

उन्होंने सृष्टिधर के इस कथन के आधार पर ऐसा माना है कि भाग-वृत्ति राजा श्रीधरसेन के आदेश पर रची गई। यह काल माघ के उद्धरण के साथ सङ्गत नहीं होता,$ जब तक माघ को सामान्यतः अभिमत की उपेक्षा करके प्रचीनतर न माना जाय।✲

३४. (पृ० २८९)—वर्धमान तथा हेमचन्द्र ने क्षीरस्वामी का स्मरण किया है। यह स्थापित करता है कि क्षीरस्वामी, जैसा कि लीविश का सुझाव है, बारहवीं शताब्दी के आरम्भ के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। यु० मी० (१९७३:२।८९-९३£) ने प्रमाण प्रस्तुत किया है जिससे क्षीरस्वामी सं० ११०० (१०४३।४ ई०) पश्चात् नहीं रखा जा सकता।

३५. (पृ० २९६)—'वाक्यपदीय' शब्द का प्रयोग प्रथम दो काण्डों और 'त्रिकाण्डी' का प्रयोग सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए होता था।[५०१]

टि० ५०१(पृ० ३६४)—अक्लुजकर ने उनके विपरीत प्रतिपादन किया है जो वाक्यपदीय शब्द को सम्पूर्ण ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त मानते हैं और इस शीर्षक के प्रथम दो काण्डों के लिए प्रयोग की व्याख्या की है। यु० मी० (१९७३:२:४००*) इस शीर्षक को केवल द्वितीय काण्ड के लिए मानते हैं, जो उनका पूर्व मत था, अपने इतिहास के इस भाग के प्रथम संस्करण में❀। अक्लुजकर ने ठीक कहा है कि इस मत को कोई समर्थन प्राप्त नहीं है।

$ यहां लेखक का अभिप्राय माघ के '**अनुत्सूत्रपद न्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना**' (२।११२)श्लोक में टीकाकार द्वारा किये गये 'पद का अर्थ महाभाष्य, न्यास का अर्थ जिनेन्द्रबुद्धि विरचित न्यास और सद्वृति का अर्थ काशिका' अर्थों पर आधृत है।

✲ माघ कवि के पितामह के आश्रय-दाता महाराज वर्मलात का सं० ६८२ (सन् ६२५) का 'वसन्तगढ़' का शिलालेख प्राप्त हो चुका है (हमने इसका निर्देश भाग १, पृष्ठ ४६४; प्रस्तुत सं० ५०६ किया है)। अतः उसकी बिना परीक्षा किये 'सामान्यतः अभिमत काल' की रट लगाना शोध कार्य के अनुरूप नहीं है। पूर्व लेखकों ने जब माघ का काल सन् ८०० (सं० ८५७) स्थिर करने का यत्न किया था, उस समय महाराज वर्मलात का वसन्तगढ़ का सं० ६८२ का शिलाखेख प्राप्त नहीं हुआ था।

£ प्रस्तुत संस्क०, भाग२,पृष्ठ ९४। * प्रस्तुत संस्क०भाग २,पृष्ठ४३७।

❀ इस से विदित होता है कि श्री जार्ज कार्डोना ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के सन् १९७३ से पूर्व के संस्करणों का भी अवलोकन किया था।

दसवां परिशिष्ट

संशोधन परिवर्तन परिवर्धन

प्रथम भाग

पृ० १७, पं० ५ 'भ और' से आगे बढ़ावें—'हकार से उत्तरवर्ती वकार का हकार से पूर्व प्रयोग होने पर' वकार को बकार......।

इस पर टिप्पणी—हकार से उत्तरवर्ती **म,य,व,ल** वर्णों का मराठी आदि भाषाओं में पूर्व प्रयोग देखा जाता है। हमारे विचार में हकारोत्तरवर्ती म, य, व, ल का हकार से पूर्व उच्चारण पाणिनि के समय में भी होने लग गया था (लेखन में ये वर्ण हकार से उत्तर ही लिखे जाते
१० हैं)। उसी के आधार पर पाणिनि ने **किं ह्मलयति'** में **हे मपरे वा** (अष्टा० ८।३।२६) सूत्र से **'किम् ह्मलयति'** में तथा वार्तिककार ने **'यवलपरे यवला वा'** (महा० ८।३।२६) वार्तिक से **किं ह्यः, किं ह्वलयति, किं ह्लादयति' 'कियँ ह्यः, किवँ ह्वलयति, किलँ ह्लादयति'** में सानुनासिक य व ल का विधान किया है। म् य् व् ल् का हकार से
१५ उत्तर प्रयोग होने पर इस प्रकार की सन्धि उपपन्न हो नहीं हो सकती क्योंकि अनुस्वार और म, य, व, ल के मध्य में हकार विद्यमान है। सभी सन्धियां स्वाभाविक उच्चारण के अनुसार होती हैं। हकार का मध्य में प्रयोग होने पर मकार और सानुनासिक य व ल का उच्चारण सम्भव ही नहीं है।

२० पृष्ठ ४३, पं० ३० 'प्रकाशित हो गया है' से आगे बढ़ावें—'यह प्रयोग स्वामी ब्रह्ममुनि सम्पादित भारद्वाज विमान शास्त्र के पृष्ठ ७४ पर है।'

पृष्ठ ४७, पं० ४ से आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—'इसी प्रकार तृतीयैकवचन 'टा' के टाया: टायाम् (द्र० महाभाष्य प्रदीप १।१।३६)
२५ प्रयोग देखा जाता है। यहां भी 'टा' प्रत्यय के आबन्त न होने से 'याट्' का आगम प्राप्त नहीं होता है।'

पृष्ठ ५४, पं० १६ 'पृष्ठ ३८' के स्थान में 'पृष्ठ ३४' शोधें।

पृष्ठ ६४, पं० १२ 'मिलता है' के आगे बढ़ावें—'बृहस्पति ने नारद को सामगान का प्रवचन किया था—**बृहस्पतिर्नारदाय** (साम ब्रा० ३।९।३)

पृष्ठ ७८, पं० १२ '१७. सुपद्म...' से आगे बढ़ावें—'१८. विनयसागर भोजव्याकरण (वि० सं० १६५०-१७००)।' ५

पृष्ठ ८७, पं० १७ 'उल्लेख है' के आगे बढ़ावें—'ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में ऋ० मं० १०, सू० ४७ तथा आगे के कुछ सूक्तों का ऋषि इन्द्र वैकुण्ठ मिलता है। तदनुसार इन्द्र की माता का एक नाम **'विकुण्ठा'** भी विदित होता है।' १०

पृष्ठ ९१, पं० १६ 'सोमेश्वर सूरि' के स्थान में **'सोमदेव सूरि'** होना चाहिये।

पृष्ठ ९७, पं० ४ '(८५०० वि० पू०)' के स्थान में '(९५०० वि० पू०)' होना चाहिये।

पृष्ठ ९८, पं० ३० 'शाकटायन की लघुवृत्ति' के स्थान में 'शाकटायन की अमोघा और लघुवृत्ति' इस प्रकार शोधें। १५

पृष्ठ ११३: पं० १६ 'कृच्छ्रम् इति' के आगे बढावें—(द्र० भाग १, पृष्ठ १०१-१०२)

पृष्ठ ११८, पं० १४ 'पूर्व निर्दिष्ट **त्रिकं**' के स्थान में शोधें—'पूर्व निर्दिष्ट (पृष्ठ ११६, पं० १२) **त्रिकं**'। २०

पृष्ठ १३४, पं० १-९ के सन्दर्भ में सर्वत्र शन्तनु के स्थान में शान्तनव नाम होना चाहिये। फिट्-सूत्र-प्रवक्ता के रूप में शन्तनु और शान्तनव दोनों नाम उपलब्ध होते हैं। इसके निर्णय के लिये इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग के पृष्ठ ३४६-३४९ देखें। वहां विस्तार से इस पर विचार किया है। २५

पृष्ठ १३६, पं० २८ 'व्याकरण परिशिष्ट, पृष्ठ ८२' के स्थान में 'व्याकरण लघुवृत्ति परिशिष्ट, ८२, तथा अमोघावृत्ति २।४।२२ गण-पाठ।' इस प्रकार पाठ शोधें।

पृष्ठ १७१, पं० १९-२० **'अपाणिनीयप्रामाणिकता'** के स्थान में **'अपाणिनीयप्रमाणता'** नाम शोधें। ३०

पृष्ठ १६६, पं० १४ '(६७) इति परिभाषा। पृष्ठ ७०, के स्थान में शोधें—'(पिङ्गलसूत्र ३।३३) इति परिभाषा (७।६)।' द्र० रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क०, पृष्ठ २६।

पृष्ठ २०१, पं० १२-१६ तक का सन्दर्भ (पैराग्राफ) कुछ अस्पष्ट ५ है, उसे इस प्रकार पढ़ें—

डा० वर्मा का मिथ्या लेख—डा० सत्यकाम वर्मा ने अपने 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' ग्रन्थ के पृष्ठ १२६-१२८ पर कौत्स के सम्बन्ध में लिखते हुए मेरे नाम से मिथ्या अभिप्राय उद्धृत करके आलोचना की है। वे लिखते हैं—'मीमांसक एक नये परिणाम १० पर जा पहुंचे हैं। वे लिखते हैं—यास्क निरुक्त (१।१५) में कौत्स का उल्लेख करता है। महाभाष्य (३।२।१०८) के अनुसार कौत्स पाणिनि का शिष्य था—उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम्।' पुनः पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं—'अतः मीमांसक की रीति से यास्क प्रोक्त कौत्स को पाणिनि का शिष्य सिद्ध करने में कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि न होगी। १५ यदि कौत्स नाम अनेक का हो सकता है। तब पाणिनीय कौत्स अन्यों से पृथक् ही क्यों न माना जाए ?'

पाठक हमारे पूर्व सन्दर्भ को ध्यान से पढ़ें। हमने कहीं पर भी यास्कोद्धृत कौत्स को पाणिनि-शिष्य कौत्स नहीं लिखा। हम तो निरुक्त गोभिल गृह्यसूत्र आदि ग्रन्थों में उद्धृत कौत्सों को पाणिनि- २० शिष्य कौत्स से मुक्तकण्ठ से पृथक् मान रहे हैं। हमने स्पष्ट लिखा है- 'रघुवंश के अतिरिक्त जिन ग्रन्थों में कौत्स उद्धृत हैं, वे सब पाणिनि से पूर्वभावी हैं' इतना स्पष्ट निर्देश करने पर भी श्री डा० वर्मा ने यह कैसे लिख दिया कि 'मीमांसक दोनों को एक मानता है ?' प्रतीत होता है—डा० वर्मा को मेरा खण्डन करना मात्र अभीष्ट था, चाहे यथार्थ २५ उद्धरण वा मत देकर करें, चाहे मिथ्या रूप से लिख कर। डा० वर्मा ने अपने ग्रन्थ में बहुत्र मेरे नाम से मिथ्या मत वा उद्धरण देकर खण्डन करके अपना पाण्डित्य प्रदर्शन किया है।

पृष्ठ २५६, पं० २२ 'किया है' के आगे बढ़ावें—'पाणिनीय-सूत्रात्मक शिक्षा के दोनों पाठों का प्रकाशन इस ग्रन्थ के तृतीय भाग ३० में ५ वें परिशिष्ट में पृष्ठ ६२-८१ तक किया है।

पृष्ठ २५८, पं० २३ 'अवश्य देखें' के आगे बढ़ावें—'जाम्बवती विजय के अद्य यावत् उपलब्ध वचनों का संग्रह हमने इसी ग्रन्थ के तृतीय भाग में ६वें परिशिष्ट में पृष्ठ ८२-९२ तक किया है।

पृष्ठ २७३, पं० १२ 'गृह्य २।५' के स्थान में 'गृह्य २।३' इस प्रकार शोधें। ५

पृष्ठ ३०३ में समुद्रगुप्त विरचित जिस कृष्णचरित के पद्यों को उदधृत किया है उस कृष्णचरित का उपलब्ध अंश हमने इस ग्रन्थ के तृतीय भाग में ७वें परिशिष्ट में पृष्ठ ९३-१०० तक छाप दिया है।

पृष्ठ ३३६, पं० २१ के आगे निम्न सन्दर्भ बढ़ावें—

क्या वार्त्तिककार पाणिनीय सूत्रों का खण्डन करता है? १०

आधुनिक वैयाकरणों का मत है कि वार्त्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतञ्जलि पाणिनि के अनेक सूत्रों वा सूत्रांशों का खण्डन करते हैं अर्थात् उनकी अनावश्यकता वा दुरुक्तता का निर्देश करते हैं। इसी दृष्टि से आधुनिक वैयाकरणों ने **यथोत्तरमुनीनां प्रामाण्यम्** ऐसा वचन भी घढ़ लिया है (द्रष्टव्य महाभाष्यप्रदीपोद्योत १५ (३।१।८०)। यहां यह विचारणीय है कि वार्त्तिककार को ऐसे दूषित पाणिनीय व्याकरण पर वार्तिक रचने की क्या आवश्यकता थी? क्यों नहीं उसने स्वतन्त्र निर्दोष व्याकरण का प्रवचन किया? तथा यदि भाष्यकार भी पाणिनीय सूत्रों का खण्डन करता है या उनमें दोष दर्शाता तो उसके **तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्** (महा० १।१।१) २० तथा **सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्** (महा० ६।१।७७) आदि वचनों का क्या अभिप्राय है? हमारा विचार है कि वार्त्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतञ्जलि ने जिन सूत्रों वा सूत्रैकदेशों का प्रत्याख्यान किया है वहां उनका अभिप्राय उनमें दोष दर्शाकर खण्डन करने वा निरर्थकता दर्शाने का नहीं है, २५ अपितु उनका अभिप्राय उस उस सूत्र अथवा सूत्रैकदेश के विना भी प्रकारान्तर से प्रयोग सिद्धि दर्शाना मात्र है। वार्त्तिककार और भाष्यकार के इस महान् प्रयत्न से उत्तरवर्त्ती व्याकरण-प्रवक्ता चन्द्राचार्य ने बहुत लाभ उठाया है। यही प्रयोजन महाभाष्य के टीकाकार शिवरामेन्द्र सरस्वती ने महा० १।१।४ सूत्र के व्याख्यान में दर्शाया है। ३० वह लिखता है—

अत्रेदमवधेयम्—लोलुवः पोपुवः इत्यादीनि प्रकृतसूत्रोदाहरणानि यानि वृत्तिकारैर्दर्शितानि तानि सूत्रं विनापि साधयितुं शक्यन्ते इत्येतावन्मात्राभिप्रायेण 'अनारम्भो वा' इत्यादिभाष्यं प्रवृत्तम्, न तु सर्वथा सूत्रं मास्त्विति ।[1]

५ अर्थात्—यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि वृत्तिकारों ने इस सूत्र के जो **लोलुवः पोपुवः** उदाहरण दिये हैं, वे सूत्र के विना भी सिद्ध किये जा सकते हैं; इतने ही अभिप्राय से **अनारम्भो वा** इत्यादि भाष्य प्रवृत्त हुआ है। सर्वथा सूत्र न होवे, इस आशय से प्रवृत्त नहीं हुआ है।

१० इस विषय में विशेष विचार हमारे द्वारा विरचित महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या भाग १, पृष्ठ २१५ तथा २८७ में देखें।

पृष्ठ ३३८, पं० १८ 'संकेत किया है' इससे आगे बढ़ावें—'कातन्त्र की दुर्गटीका २।२।५५; २।५।५; ३।३।३१; ३।४।२३; ३।६।३; ३।८।१३ में पदकार के नाम से महाभाष्य के वचन उद्धृत हैं

१५ (द्र० कातन्त्रसूत्र विमर्श, पृष्ठ २७२)।

पृष्ठ ३६४, पं० ७-१२—इन श्लोकों के लिये तीसरे भाग के ७वें परिशिष्ट में पृष्ठ ९३-१०० तक छापा गया कृष्णचरित का उपलब्ध अंश देखें।

पृष्ठ ३६४, पं० १९ 'सर्वथा काल्पनिक नहीं है' इसके आगे

२० बढ़ावें—'इसके लिये पूर्व पृष्ठ ३६१ पर निर्दिष्ट **'शाखा वा चरण'** शीर्षक लेख देखें।

पृष्ठ ३८०, पं० १-२ में उद्धृत श्लोक का पाठान्तर इस प्रकार भी मिलता है—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।

२५ **कौमुदी यदि चायाति वृथाभाष्ये परिश्रमः॥**

पृष्ठ ४३४, पं० १७ 'मध्य होगा के आगे बढ़ावें—'इस विषय में विशेष इस ग्रन्थ के १७वें अध्याय में 'वोपदेव' के प्रकरण में देखें। एक धनेश्वर ने सारस्वत व्याकरण पर क्षेमेन्द्र द्वारा लिखित **'टिप्पण'**

---

१. हमारा हस्तलेख, पृष्ठ २७३, २७४ तथा 'महाभाष्यप्रदीपव्याख्यानानि'

३० (पाण्डिचेरी से मुद्रित) भाग १, पृष्ठ ३०९।

पर '**क्षेमेन्द्र टिप्पण खण्डन**' नामक ग्रन्थ लिखा है (द्र० 'सारस्वत के टीकाकार' प्रकरण, पृष्ठ ७०८) ।

पृष्ठ ४४४, पं० ६ 'सूचीपत्र भाग २, पृष्ठ ७४' **इस पर टिप्पणी**—यह सूचीपत्र इस समय हमारे पास नहीं है। लाहौर में देख कर भाग और पृष्ठ संख्या का निर्देश किया था। अडियार के वर्तमान में उपलब्ध व्याकरण विभागीय सूचीपत्र में ग्रन्थ संख्या १३८, पृष्ठ ३८ पर गोपालकृष्ण शास्त्री विरचित 'शाब्दिक चिन्तामणि' का निर्देश मिलता है। ५

पृष्ठ ४४४, पं० १३ 'है।' के नीचे बढ़ावें—

'यह ग्रन्थ अधूरा ही रहा, इसकी पूर्त्ति गोपालकृष्ण शास्त्री के पुत्र ने की। द्र० अडियार व्याकरण विभागीय सूचीपत्र, ग्रन्थ संख्या १३८, पृष्ठ ३८, ३९। १०

पृष्ठ ४४९, पं० 'लिखा है' पर टिप्पणी—'अडियार के व्याकरण विभागीय सूचीपत्र ग्रन्थ संख्या ५५६, पृष्ठ २१२ पर निर्दिष्ट 'विद्वन्मुखभूषण' के नवाह्निक के हस्तलेख के अन्त का पाठ इस प्रकार है— १५

इति प्रयागवेङ्कटाद्रिविरचिते महाभाष्यविद्वन्मुखभूषणे प्रथमाध्याये प्रथमे पादे नवाह्निकम्।

पृष्ठ ४५१, पं० ७ 'नाम दत्तात्रेय है' के आगे बढ़ावें—भण्डारकर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान पूना के उक्त हस्तलेख के अन्त का पाठ इस प्रकार है— २०

इति श्रीभगवद्गणे(श)प्रसादप्राप्तसत्प्रज्ञाभासुरविदुरशिरोमणिदत्तात्रेयपूज्यपादशिष्य-व्याकरणार्णवकर्णधारगोलिगोणि(?) नामककमलाकरदीक्षितच[रण]समाराधनसमधिगतमहाभाष्याशयगूढतत्त्वस्य श्रीमत्सकलविद्यानिपुणान्तर्वाणि(सि ?) शिरोमणिमहागुरुनैलकण्ठभट्टारकपादपरिचर्याध्वस्तसमस्ताज्ञानस्य भट्टसदाशिवस्य कृतौ गूढार्थदीपिन्यामष्टमोऽध्यायः स[मा]प्तिमगात्। २५

पितुरभ्यर्णमभ्यस्य भाष्यं भाष्यविदां मणिम्।
कमलाकरमासाद्य व्यधत्तेदं सदाशिवः ॥

उक्त विवरण के अनुसार सदाशिव भट्ट के पिता का नाम नीलकण्ठ था। इन्होंने अपने बड़े भाई नैलकण्ठि कमलाकर दीक्षित से ३०

महाभाष्य का अध्ययन किया था। कमलाकर के गुरु का नाम दत्ता-त्रेय था। सदाशिव ने कमलाकर की सहायता से महाभाष्य की व्याख्या लिखी थी।

इसी हस्तलेख के अन्य स्थान पर अन्त्य लेख है—

५ **इति श्रीकमलाकरदीक्षितांतेवासि-शिवपण्डितविरचिते भाष्यव्याख्याने द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥**

पृष्ठ ४७३, पं० २४ के आगे नया सन्दर्भ (पैरा) बढ़ावें—'कातन्त्र के आख्यात भाग के सप्तम अष्टम पाद की दुर्गवृत्ति की रामकिशोर ने मङ्गला नाम्नी टीका रची थी।[1] इस मङ्गला टीका ३।७।६
१० में पदशेषकार स्मृत है।[2]

पृष्ठ ५६७, पं० १५ के आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—'नन्दनमिश्र कृत **तन्त्रप्रदीपोद्योतन** के ही दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा निर्दिष्ट हस्तलेख के अन्त में **न्यासोद्दीपन** नाम से उल्लेख है। उन्हीं के लेखानुसार यह तन्त्रप्रदीप की व्याख्या है। इस अवस्था में यह विचारणीय हो जाता
१५ है कि दोनों हस्तलेखों में ग्रन्थकार नन्दनमिश्र के पिता के नामों में अन्तर क्यों है ? क्या यह सम्भव हो सकता है कि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के होवें ? एक धनेश्वर जो वोपदेव का गुरु था, ने महाभाष्य पर **चिन्तामणि** नाम की व्याख्या लिखी थी। इसका उल्लेख पूर्व पृष्ठ ४३४ पर कर चुके हैं। क्या धनेश्वर नाम के ही दो व्यक्ति हुए
२० अथवा तन्त्रप्रदीपोद्योतन तथा महाभाष्य की चिन्तामणि व्याख्या का लेखक एक ही धनेश्वर है ? भावी इतिहास लेखकों को इन पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये।'

पृष्ठ ५६८, पं० १५ से पृष्ठ ५६६, पं० ६ तक के विषय में—

मल्लिनाथ ने कुमारसम्भव की टीका में वोपदेव को उद्धृत किया
२५ है। वोपदेव ने हेमाद्रि सचिव के कहने से उसके लिये भागवतपुराण की 'हरिलीलामृत' नाम्नी सूची का निबन्धन किया था, यह हम आगे वोपदेव के प्रकरण में लिखेंगे। इस विषय में इसी ग्रन्थ का आगे पृष्ठ

---

१. कातन्त्र विमर्श, पृष्ठ १५।

२. कातन्त्रविमर्श, पृष्ठ २७२, संख्या ६५।

७१४ देखें। हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि का लेखन काल निश्चित है। तदनुसार या तो वोपदेव और मल्लिनाथ का काल कुछ पूर्व मानना होगा अथवा हैमबृहद्वृत्त्यवचूर्णि में निर्दिष्ट **तन्त्रोद्योत** मल्लिनाथ विरचित न्यासोद्योत से भिन्न ग्रन्थ होगा।

पृष्ठ ६०८, पं० ६–१८ तक उद्धृत वैयाकरणों के नामों के विषय में— ५

'इस सूची में संख्या १६ पर '**रामाश्रम सिद्धान्तचन्द्रिकाकार**' का नामोल्लेख किया है। इसका आगे (पृष्ठ ७१४) में सारस्वत व्याकरणकार के प्रकरण के अन्तर्गत ही निर्देश करने से यहां इस नाम का निर्देश करना युक्त नहीं है। इस प्रकार यहां एक संख्या की कमी करनी होगी। १०

पृष्ठ ७०८, पं० २२ 'मेन्द्र' के स्थान में 'क्षेमेन्द्र' होना चाहिये।

पृष्ठ ७०८, पं० २३ 'कृष्ण शर्मा'—बेल्वाल्कर के लेखानुसार क्षेमेन्द्र के गुरु का नाम 'कृष्णाश्रम' होना चाहिये (द्र० सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६७)। १५

पृष्ठ ७०८, पं० २४ 'भिन्न हैं' के आगे बढ़ावें—'डा० बेल्वालकर ने क्षेमेन्द्र के काल के विषय में इतना ही लिखा है—'इससे स्पष्ट होता है कि क्षेमेन्द्र १६ वीं शताब्दी की प्रथम तिमाही के अन्त में जीवित नहीं थे (द्र० सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६८)।

पृष्ठ ७०६, पं० २४ 'पूर्व कर चुके हैं' के आगे बढ़ावें—डा० बेल्वाल्कर ने धनेश्वर का काल सामान्यतया 'क्षेमेन्द्र के पश्चात् और १५६५ ई० से पूर्व माना है, जब कि धनेश्वर की व्याख्या की एक पाण्डुलिपि की गई।' (द्र० सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर, पृष्ठ ६६)। २०

भाग २

पृष्ठ १०१, पं० ३ बढ़ावें '६' मैत्रेयरक्षित' के स्थान में '११. मैत्रेयरक्षित' शोधें। २५

इसी प्रकार पृष्ठ १०३, पं० १ में '११' संख्या के स्थान में '१२'; पृष्ठ १०४, पं० २३ में '१२' संख्या के स्थान में '१३'; पृष्ठ १०६, पं० १ में '१३' संख्या के स्थान में '१४'; पृष्ठ १०७, पं० १६ में

'१४' संख्या के स्थान में '१५'; पृष्ठ १०७, पं० २८ में '१५' संख्या के स्थान में '१६'; पृष्ठ १०६, पं० १८ में '१४' संख्या के स्थान में '१७' और पृष्ठ ११०, पं० ५ में '१५' संख्या के स्थान में '१८' संख्या होनी चाहिये।

५ पृष्ठ १०५, पं० २३ 'उत्तरकालीन हैं।' से आगे पाठ बढ़ावें—'पुरुषकार पृष्ठ १४, पं० १२ में एकपाठ है—**यथादैवमेव च मैत्रेयः**। इससे प्रतीत होता है कि मैत्रेय देव से उत्तरवर्ती है। परन्तु पुरुषकार के पूर्व उद्धृत तीन पाठों से स्पष्ट है कि देव मैत्रेय का अनुसरण करता है। अतः 'यथादैवमेव च मैत्रेयः' का तात्पर्य दोनों की समानता मात्र १० दर्शाने में है, अन्यथा स्ववचन विरोध होगा।

पृष्ठ ११३, पं० २६-२७-२८ में क्रम संख्या १६-१७-१८ के स्थान में १९-२०-२१ तथा पृष्ठ ११४, पं० १-२-३ में क्रम संख्या १९-२०-२१ के स्थान में २२-२३-२४ होनी चाहिये।

पृष्ठ १३८, पं० ५ '१८ मलयगिरि—' के नीचे बढ़ावें

१५ 'मलयगिरि ने अपने धातुपाठ पर स्वयं धातुपारायण नाम्नी व्याख्या लिखी थी। यह सम्प्रति अनुपलब्ध है (द्र० भाग १, पृष्ठ ७०२, पं० १८)।'

पृष्ठ १४८, पं० १६ '२. शन्तनु...' यहां '२. शान्तनव...' पाठ होना चाहिये। आगे भी सर्वत्र 'शन्तनु' के स्थान में 'शान्तनव' पाठ २० होना चाहिये। द्र० पृष्ठ १३४, पं० १-६ के सन्दर्भ में किया गया संशोधन (पूर्व पृष्ठ १२५ पं० २१-२५)।

पृष्ठ १६४, पं० १२ के आगे सन्दर्भ बढ़ावें—

१६. मलयगिरि (सं० ११८८-१२५० वि०)

मलयगिरि आचार्य ने स्वीय शब्दानुशासन से सम्बद्ध 'गणपाठ' २५ का प्रवचन भी किया था। यह सम्प्रति अनुपलब्ध है (द्र० भाग १, पृष्ठ ७०२, पं० १८)।

पृष्ठ १६४, पं० १३ '१६. क्रमदीश्वर'—मलयगिरि कृत गणपाठ का विवरण जोड़ने से यहां '१६' संख्या के स्थान में '१७' संख्या होगी। आगे भी इसी प्रकार एक संख्या का परिवर्धन होगा।

पृष्ठ २०७, पं० १ '२—शन्तनु...' यहां '२—शान्तनव...' पाठ होना चाहिये। आगे भी इस सन्दर्भ में 'शन्तनु' के स्थान में 'शान्तनव' पाठ जानना चाहिये। फिट् सूत्र आचार्य शान्तनव प्रोक्त हैं इसका निर्णय आगे 'फिट्सूत्रों का प्रवक्ता और व्याख्याता' नामक २७वें अध्याय में पृष्ठ ३४६-३४९ तक किया है। ५

पृष्ठ २७४, पं० ८ '१—शन्तनु...' यहां भी '१—शान्तनव...' पाठ होना चाहिये। द्रष्टव्य पृष्ठ २०७, पं० १ का संशोधन।

पृष्ठ ३५९, पं० १२ के आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—

६—रामचन्द्र शेष (सं० १७०० के लगभग)

शेषकुलोत्पन्न नागोजी के पुत्र रामचन्द्र ने **स्वरप्रक्रिया** नामक १० एक ग्रन्थ लिखा है। इसमें पाणिनीय अष्टक के स्वरविषयक सूत्रों की व्याख्या के साथ ही फिट् सूत्रों की भी व्याख्या की है। रामचन्द्र ने स्वरप्रक्रिया की स्वयं व्याख्या भी लिखी है।

यह ग्रन्थ आनन्दाश्रम पूना से सन् १९७४ में छपा है। यह ग्रन्थ जिस हस्तलेख के आधार पर छपा है, उसके अन्त का पाठ इस प्रकार १५ है—

इति शेषकुलोद्भवनागाह्वयपण्डितसूनुरामचन्द्रपण्डितविरचिता स्वरप्रक्रिया समाप्ता। संवत् १८१४ फाल्गुण वदि ॥ २८०० । इदं पुस्तकं जावडेकरशिवरामभट्टानाम्।

इति शेषकुलोत्पन्नेननागोजीपण्डितानां पुत्रेण रामचन्द्रपण्डितेन २० **विरचिता स्वरप्रक्रिया व्याख्या समाप्ता ॥ सं० १८१५ इदं शिवराम भट्ट जावडेकराणाम्। संख्या २९०० ॥**

काल—उपरि निर्दिष्ट संवत् १८१४ तथा १८१५ जावडेकर-शिवराम भट्ट की पुस्तक की प्रतिलिपि का है। स्वरप्रक्रिया और उसकी व्याख्या में भट्टोजिदीक्षित से अवरकालीन ग्रन्थकार का उल्लेख २५ न होने से यह निश्चय ही विक्रम की १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से अर्वाचीन नहीं है।

मूल ग्रन्थ के अन्त में लिखित 'संख्या २८००' और व्याख्या के अन्त में निर्दिष्ट 'संख्या २९००' ग्रन्थपरिमाण सूचक है। अर्थात् क्रमशः ये २८०० और २९०० अनुष्टुप् श्लोक परिमित हैं। ३०

पृष्ठ ३५६, पं० १३ '६–श्रीनिवास...' यहां अब '७—श्रीनिवास ...' पाठ होना चाहिये।

पृष्ठ ३५६, पं० २७ के आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—

अन्य स्वरशास्त्र-व्याख्याता

५ श्रीनिवास यज्वा विरचित 'स्वरसिद्धान्त मञ्जरी' में **स्वरकौमुदी, स्वरमञ्जरी** और **स्वरमञ्जरी-विवरण** नामक ग्रन्थों का असकृत् उल्लेख मिलता है। स्वरप्रक्रिया की भूमिका (इण्ट्रोडेक्शन) में काशीनाथ वासुदेव अभ्यङ्कर ने नृसिंह पण्डित विरचित **स्वरसिद्धान्त-मञ्जरी** और विट्ठलेश विरचित **स्वरप्रक्रिया** का उल्लेख किया है।
१० इनमें भी फिट्सूत्रों की व्याख्या सम्भव है, परन्तु इन ग्रन्थों के उपलब्ध न होने से हमने इनका साक्षात् उल्लेख नहीं किया हैं।

पृष्ठ ३६३, पं० १६-२० 'अर्थात्—शाकल्यशिष्य......निसृत जानो' के स्थान में इस प्रकार शोधें—शाकल्य बाष्कलि आश्वलायन आदि[1] के शिष्यों द्वारा प्रोक्त अनुशाखाओं को प्रतिशाखा से निसृत
१५ जानो।'

पृष्ठ ३६४, पं० ३१ के आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें—

गार्ग्य गोपाल यज्वा की भूल—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ४।११ की व्याख्या में गार्ग्य गोपाल यज्वा भी ऐसी ही भूल करता है—

नन्वेवमनेकशाखाविषयत्वे प्रातिशाख्यमिति ग्रन्थस्याख्या विरुद्-
२० ध्यते। **नैतदस्ति**। द्वित्रिशाखाविषयत्वेऽपि तदसाधारणतया उपपत्तेः। **तथा बह्वृचानां शाकलकबाष्कलकशाखाद्वयविषयं प्रातिशाख्यं प्रसिद्धम्**।

अर्थात्—इस प्रकार प्रातिशाख्य के अनेक शाखा विषयक होने से ग्रन्थ की प्रातिशाख्य संज्ञा विरुद्ध होतीं है। ऐसा नहीं है। दो तीन
२५ शाखा विषयक होने पर भी वह आख्या असाधारण होने से उपपन्न होती है। ऋग्वेदियों का शाकलक और बाष्कलक दो शाखाओं का प्रातिशाख्य प्रसिद्ध है।

१. एतेषां शाखा पञ्चविधा भवन्ति–शाकलाः, बाष्कलाः, आश्वलायनाः, शांखायनाः, माण्डूकेयाश्च (वै० वाङ्मय का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १८३,
३० द्वि० सं०, सं० २०१३)। तुलना करो—ऋग्वेदीय शौनक चरणव्यूह १।७-८॥

यहां गार्ग्य गोपाल यज्वा ने दो भूलें की हैं—**प्रथम**— उसने प्रतिशाखा शब्द का मूल अर्थ न जानकर प्रातिशाख्य नाम के आधार पर उन्हें एक एक शाखा का मानकर दो तीन शाखाओं का एक प्रातिशाख्य होना स्वीकार किया। **द्वितीय**—ऋग्वेदीय शौनक प्रातिशाख्य को शाकलक और बाष्कलक दो शाखाओं का स्वीकार किया। वस्तुत: शाकल और बाष्कल दोनों पृथक् चरण हैं।[1] प्रातिशाख्य एक एक चरण से सम्बद्ध शाखाओं के हैं, यह पूर्व (यही भाग, पृष्ठ ३६२) निरुक्तकार यास्क के वचन से प्रमाणित कर चुके हैं। ऐसी अवस्था में शाकल चरण से सम्बद्ध शौनकीय प्रातिशाख्य बाष्कल चरण से सम्बद्ध नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, इसी भाग में आगे (पृष्ठ ३८३) बाष्कल प्रातिशाख्य का पृथक् सद्भाव प्रमाणित किया है।

पृष्ठ ३८१, पं० २० 'आश्वालायन शाखा' के स्थान में '**आश्वलायन चरण**' इस प्रकार पाठ शुद्ध करें।

पृष्ठ ३८२, पं० ३ 'अन्य काल' के स्थान में '**अन्य ग्रन्थ**' इस प्रकार पाठ शोधें।

पृष्ठ ३८३, पं० २४ से आगे नया सन्दर्भ बढ़ावें।

'पूर्व पृष्ठ ३६४, पं० ३१ के आगे बढ़ाये नये सन्दर्भ में लिख चुके हैं कि गार्ग्य यज्वा गोपाल का शौनकीय प्रातिशाख्य को शाकल और बाष्कल दोनों शाखाओं का मानना भूल है। क्योंकि बाष्कल चरण शाकल चरण से पृथक् है। शाकल चरण का प्रातिशाख्य प्राप्त है, बाष्कल चरण के प्रातिशाख्य के पृथक् सद्भाव में ऊपर प्रमाण उपस्थित कर चुके हैं।'

पृष्ठ ४०६, पं० २० के आगे पुष्पसूत्र का नया संस्करण छप रहा है। उसके प्रकाशित होने पर सम्भव है पुष्पसूत्र के विषय में नया प्रकाश पड़े।

पृष्ठ ४४१, पं० ७-८ '**भाषातत्त्व** और **वाक्यपदीय** नामक ग्रन्थों में' इस के स्थान में '**भाषातत्त्व और वाक्यपदीय** नामक ग्रन्थ में' पाठ होना चाहिये।

—:o:—

१. द्र० पृष्ठ १३४ की टि० १।

ग्यारहवां परिशिष्ट

'सं० व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के लेखन कार्य में

विशिष्ट विद्वानों के सहयोगात्मक पत्र

प्रस्तुत 'सं०व्या०शा०इ०' के लिखने में तथा प्रथम संस्करण प्रका-
५ शित होने के पश्चात् अनेक वरिष्ठ मान्य विद्वानों ने समय समय पर सुहृद्भाव से पत्रों द्वारा मुझे अनेक उपयोगी सुझाव दिये, अनेक ग्रन्थकारों के विषय में नई सूचनाएं दीं, नये प्रमाण प्रस्तुत किये। यदि ये मान्य विद्वान् सुहृद्भाव से मुझे इस कार्य में सहयोग न देते तो निश्चय ही इस ग्रन्थ में अनेक त्रुटियां वा न्यूनताएं रह जातीं और इसका वर्तमान
१० स्वरूप भी न होता। अतः इन सब महानुभावों ने समय-समय पर मुझे जो उपयोगी पत्र लिखे, उनमें से जो पत्र मेरे पास सुरक्षित हैं, उन्हें अपनी कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए इस परिशिष्ट में मुद्रित कर रहा हूं। इसे मैं ऋषि-तर्पण मानता हूं। अतः इस कार्य से मैं कुछ सीमा तक ऋषि-ऋण से भी उन्मुक्त हो सकूंगा।

१५ स्व० श्री पं० भगवद्दत्त जी के पत्र

'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' लिखने की प्रेरणा स्व० श्री पूज्य पण्डित भगवद्दत्त जी ने संभवतः सं० १९९४ (सन् १९३७) में दी थी। उनकी प्रेरणा से मैं इस ग्रन्थ के लेखन में प्रवृत्त हुआ। आरम्भ से संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थों के स्वाध्याय में मेरी रुचि रही है। इस कारण मैं इससे पूर्व ही
२० शतशः ग्रन्थों का पारायण कर चुका था। व्याकरण शास्त्र के इतिहास के लिये मैंने पूर्व पारायण किये ग्रन्थों का पुनः पारायण किया और शतशः मुद्रित वा लिखित ग्रन्थों का तथा विविध पुस्तकालयों में संगृहीत हस्तलेखों के उस समय तक छपे सूचीपत्रों का ४-५ वर्ष में विशेष अवलोकन किया। इस प्रकार सं० १९९९ तक लाहौर में रहते हुए इस ग्रन्थ के लिये उपयुक्त सामग्री का संकलन
२५ कर चुका था। इस काल में प्रस्तुत इतिहास के लेखन में स्व० श्री पण्डित

भगवद्दत्त जी से महती सहायता प्राप्त हुई। सं० १९९९ (सन् १९४२) के मध्य से सं० २००२ के अन्त (सन् १९४६ के अप्रेल) तक अजमेर में रहा। तत्पश्चात् देशविभाजन के काल तक लाहौर में रहने के अनन्तर पुनः अजमेर आया (विशेष द्रष्टव्य प्रथम भाग के आरम्भ में प्रथम संस्करण की भूमिका पृष्ठ ९-१० तथा १३-१४)। ५

दोनों बार अजमेर निवास के काल में स्व० श्री पं०भगवद्दत्त जी से बराबर पत्र-व्यावहार होता रहा और वे व्याकरण शास्त्र के इतिहास के लिये उपयोगी सामग्री पत्र द्वारा उपस्थित करते रहे। उनके दोनों बार अजमेर निवास के लगभग ५ वर्ष के काल में पचासों पत्र मुझे प्राप्त हुए, उनमें से उनके कतिपय पत्र ही मैं कथंचित् सुरक्षित रख सका। उन पत्रों में से जिन पत्रों १० में प्रस्तुत इतिहास के लेखन के लिये विशेष प्रमाण वा सुझाव दिये गये हैं, उन्हें पूर्ण अथवा अंशरूप में नीचे दे रहा हूं।

(१)

ओ३म्

Bhagavad Datta B. A.
Editor-in-Chief
of
History of India, (Fifteen Vols.)

Vedic Research Institute, १५
9c, MODEL TOWN (Lahore)

Dated ७-८-४५

प्रियवर पण्डित युधिष्ठिर जी;

नमस्ते। आप का पत्र दुकान पर से घूम रहा है। अभी मिला २० नहीं। १५ नए पत्र[1] मिले हैं।

अभिसन्धिर्वञ्चनार्थः इति धातुसंग्रहः।

मालतीमाधव पर जगद्धरटीका अंक १

तदुक्तं त्रिलोचनपञ्जिकायाम्

निपाताश्चोपसर्गाश्च……श्चेति ते त्रयः। २५

---

१. अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती के पूर्व प्राप्त पत्रों के अतिरिक्त १५ नये पत्र मिले हैं। यु० मी०

अनेकार्था भवन्त्येवं पाठस्तेषां निदर्शनम् ।।

श्रीकण्ठचरित पर जौनराज टीका पृ० २५०

अनेकार्थाः स्मृताः ········[1] पृष्ठ १५५

इन दोनों पुस्तकों के नाम इतिहास में सन्निविष्ट कर लें। इतिहास-लेखन-प्रगति पर·········· ना यदि दे सकें, तो भी श्रेष्ठ बात होगी।

···जी से– ·······–····················रद्दी अवश्य देखें। यदि इतिहास ·············· ······फुलस्केप पूरे लिखे जावें,–··········· ·········भेजते रहें। देखें, इससे·····························

समय २ पर और भी सूचनाएं भेजता रहूंगा। पूर्ण वृत्त लिखें। सब को नमस्ते।

भगवद्दत्त

(२)

ओम्

Vedic Research Institute,
9c, model town (lahore)[2]

प्रियवर श्री युधिष्ठिर जी,

नमस्ते। आपने स्वामी जी के पत्र उस ग्राम से खोजे या नहीं।[3] हमें सारे २० पत्र मिल गए[4]। छप रहे हैं।

---

१. इस पत्र को दीमकों ने खा लिया है। अतः जहां पाठ पूर्ति न हो सकी वहां········चिह्न दे दिये हैं।

२. इस पत्र पर तारीख नहीं दी है। इस पर माडल टाउन लाहौर के पोस्ट आफिस की १९ अगस्त ४५ की तथा अजमेर के पोस्ट आफिस की २६ अगस्त ४५ की मोहर है।

३. मैंने किसी पत्र में अजमेर के समीप में विद्यमान 'भांवता' नामक ग्राम में स्वामी दयानन्द सरस्वती के पत्र विद्यमान होने की संभावना प्रकट की थी। यह संकेत उस की ओर है। वहां से मुझे कोई पत्र नहीं मिला।

४. द्र० ७-८-४५ का पत्र और उसकी पृष्ठ १३७ की टिप्पणी १।

आचार्य भीमसेन का काल ईसा ६०० से पहले का है। यह लेख New Indian Antiquary vol. 1939 pp. 108–110 पर है। टिप्पण कर रखें। पीछे से देख लेंगे।

इतिहास का कितना काम हो गया। वेदभाष्य के टाइटल आदि पर से श्री स्वामी जी के विज्ञापनों की प्रतिलिपियां तिथि सहित भेजें। जो मुद्रित न हों, वही भेजें। पूरा देख कर भेजें। ५

इतिहास के लिए आवश्यक पुस्तकें मैं ले सकता हूं, लिखें। वह पुस्तकालय के लिए पुस्तकें खरीदी गईं या नहीं। इसका पूरा वृत्त लिखें। उत्तर शीघ्र।

भगवद्दत्त १०

(३)

ओ३म्

Bhagavab Datta B. A.
Editor-in-chief
of
History of India, (fifteen vols.)

Vedic Research Institute,
9c, Model Town (lahore) १५
Dated 15.10-45

श्री पं० युधिष्ठिर जी,

नमस्ते, कृपा पत्र मिले। मैं १० दिन सिमला और देहली रहा। आप का पत्र पढ़ कर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। ईश्वर करे ग्रन्थ शीघ्र बने। यह अच्छा है कि समग्र ग्रन्थ प्रस्तुत करने से पूर्व यहां आवें। कातन्त्र पृ० ५५ पर अधिक खोज करें। २०

वाक्यपदीय प्रथम काण्ड की वृषभदेव की टीका में न्याङ्क्वम् प्रयोग पर उदाहृत सूत्र देखें। विचार करें कि किस व्याकरण का है।[१] मुझे पता नहीं लगा। उस पर पाणिनीय प्रयोग भी दिया गया है। मुझे लिखें कि, क्या तात्पर्य निकल ... ...। त्रैमासिक पत्रों में कुछ और लेख निकले हैं। यहां आने पर आप देख सकेंगे। क्या पुस्तकालय[२] में पुस्तकें...... —....। २५

---

१. इस विषय में व्या०शा० का इति० भाग १, पृष्ठ ३० पर टि० २ देखें।

२. उस समय मैं वैदिक पुस्तकालय अजमेर में काम करता था। उस

मामराज जी.........—......—मुझे चित्रों के सम्बन्ध में कुछ नहीं बताया..............ल यही पता था कि वे स्वयं सब.............. रहे हैं। मुझे मिल कर—.........कुछ न............। १५ दिन में एक पत्र अवश्य देते रहे।.....— —...स्वास्थ्य लिखें।

५ क्या पत्रों के अन्य फारम आप को मिले या नहीं।

भगवद्दत्त

(४)

ओम्[1]

९ सी
१० माडल टाऊन
लाहौर
रात्रि २६-१०-४५

प्रिय युधिष्ठिर जी,

नमस्ते--जैन पुस्तक प्रशास्ति संग्रह में कुछ व्याकरण ग्रन्थ १५ भी हैं। कातन्त्र पर भी कुछ लेख हैं। वर्णन लम्बे हैं अतः लिखने का समय नहीं। टिप्पणि सुरक्षित रखें। देख कर उपयोगी भाग ले लें। सब कुशल। सबको नमस्ते।

भगवद्दत्त

कातन्त्रवृत्तिविवरणपंजिका,
२० कातन्त्रोत्तर अपरनाम विद्यानन्द व्याकरण

पुस्तकालय में कुछ आवश्यक पुस्तकें खरीदने के लिये एक सूची बनाई थी। जिस पर पण्डित भगवद्दत्त जी ने हस्ताक्षर किये थे। उसी की ओर यह संकेत है। पृष्ठ १३९, पं० ८ में भी इसी ओर संकेत है।

१. इस पत्र को भूल से मेरा पता लिखे विना ही पोस्ट बाक्स में छोड़ २५ दिया गया। वह डेडलेटर आफिस में घूमता हुआ ३ नवम्बर १९४५ को वापस श्री पं० भगवद्दत्त जी के पास पहुंचा। मेरे पास कब और कैसे पहुंचा, यह स्मरण नहीं।

(५)

अथ

नई देहली

रात्रि १३-२-४८

न्यङ्कुः—कुरङ्गसदृशो विकटबहुविषाणः ५

ये वराह आदि दश महामृग हैं। अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय ६।५०॥ हेमादि टीका

[आगे का अंश छोड़ा]

भगवद्दत्त

(६) १०

ओ३म्

Arya Samaj
Lachmansar
Amritsar
१०-३-४८ १५

प्रियवर पण्डित जी

नमस्ते। आपका २-३-४८ का पत्र यहां ६ को मिला था। दूसरा ग्रन्थ एप्रिल में दे दें। अन्यत्र भी कोई प्रति बेचने का यत्न करें। श्री म. लालचन्दजी ने अभी पूरी बात नहीं बताई। अभी वी. पी. न भेजें। २०

आत्रेय में भवभूति माधवीया धातुवृत्ति पृष्ठ २३३
पारायण से सुधाकर उत्तरवर्ती—— पृ० २८४
आपिशलि—— पृ० ३२६
,, ,, पृ० ३५६

यही स्थान आपने अब देखा है। २५

पृ० ३५६ देखें। क्या काश्यप का व्याख्यान आपिशलि पर था। विचार लें।

सुधाकर से भट्टि पहिले — पृ० १२०
आत्रेय भट्ट का स्मरण करता है पृ० ३०८

इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से धातुवृत्तिः पढ़ कर आप पौर्वापर्य निश्चित करें। अन्य ग्रन्थों में भी आपिशलि देखें। विदुरनीति का अनुवाद छपेगा वा नहीं। मैं इतिहास की शुद्धि लिपि कर रहा हूं। और ज्ञातव्य बातों से सूचित करें। म्लेच्छ भाषा के प्रमाण निकाले या नहीं। क्या यहां आने का विचार कर सकेंगे। प्रतीत होता है, हमें यहां रहना पड़ेगा।

सत्यश्रवा की सगाई वहां हो गई विवाह मई में होगा।

भ० दत्त

(७)

ओम्

आर्यसमाज
लछमनसर
अमृतसर
१६-३-४८

प्रियवर पण्डित जी,

नमस्ते। अभी पहले पत्र का उत्तर नहीं आया। ऋक्प्रातिशाख्य में गार्ग्य और शाकटायन दोनों उद्धृत हैं। शाक० तीन वार—सारे उद्धरण दें। बृहद्देवता में उद्धृत शाक० के साथ यह उल्लेख भी करें। काल के लिए आवश्यक है। ऋक् प्राति० (डा० मंगलदेव वाला) पदकार पृ० ३८४ पर, ध्यान से देखें। [1]शाकटायन के सारे उद्धरण एकत्र करके उसके व्याकरण के स्वरूप पर लिखें।

ग्रन्थ का बहुत परिमार्जन करें। अद्वितीय बनाएं।

अब यहां शान्ति है। सब लोग आपको यहां बुलाना चाहते हैं। निश्चय करलें। और सब कुशल है।

भ० दत्त

मैं कुछ काल तो यहाँ रहूंगा। आप विचार लें। यहां भय अब किसी प्रकार का नहीं है।

---

१. यह पङ्क्ति पत्र के ऊपर रिक्त स्थान में लिखी है। हमने इसे यहां रखा है।

(८)

ओम्

आर्यसमाज
लछमनसर
अमृतसर ५
२२-३-४८

प्रियवर पण्डित जी,

नमस्ते ध्वन्यालोक [पृष्ठ] ३८६ तीसरा उद्योत की अभिनवगुप्तकृत लोचन टीका में लिखा है—

तथा च भागुरिरपि—किं रसानामपि स्थायिसंचारितास्तीत्याक्षिप्य १० अभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद् वाढमस्तीति।

यह प्रमाण अलंकार शास्त्र से है वहां लिखें।

[1]कश्मीर के छपे काठकगृह्य आंगल भाषा-भूमिका पृष्ठ ६ पर—

लौगाक्षिश्च तथा काण्वस्तथा भागुरिरेव च। एते मे—

यह पाठ अगस्त्य के श्लोक तर्पण में। भागुरि याजुष आचार्य। १५ यह वचन लिख लें।

[2]दुर्ग निरुक्त १।१३ के अन्त भाष्य में—**शाकटायनोऽतिपाण्डित्याभिमानात्—**

अमृतसर आपका प्रबन्ध हो सकता है। सोच कर लिखें। रहना यहीं समाज में होगा। शीघ्र उत्तर देवें। २०

भ० दत्त

आपके ग्रन्थ के पृष्ठ ४१[3] पर तै० सं० के प्रमाण में 'वायु' वाला पाठ लिखना चाहिये। क्या वही वायु—वायुपुराण में स्मृत है। बहुत सूक्ष्मेक्षिका से देखें। शब्दशास्त्र में वह इन्द्र का सहकारी—

भ० दत्त २५

---

१. ये अगली पङ्क्तियां पत्र के ऊपर रिक्त स्थान में लिखी हैं। हमने यहां जोड़ी हैं। २. यह पङ्क्ति भी पत्र के हाशिये पर लिखी है।

३. यह पृष्ठ संख्या लाहौर में सन् १६४७ में छप रहे 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के पहले भाग की है। यह छपा अंश वहीं नष्ट हो गया।

(६)

c/o Shri Satya Shrava M. A.
Central Asian Museum
Queensway
New Delhi
२५-७-४८

५

प्रियवर श्री पण्डित युधिष्ठिर जी,

बहुत २ नमस्ते। आपका १७ का कार्ड यथा समय मिला। यहां सत्यश्रवा की धर्मपत्नी और तत्पश्चात् सत्यश्रवा रोगी हुए, अतः पूना नहीं जा सका। अब ठीक हो रहे हैं। दो चार दिन तक पूना जाऊंगा। पुनः अमृतसर जाऊंगा। १०

कागज का प्रबन्ध कर सकूंगा। थोड़े दिन में उत्तर दूंगा। श्रेष्ठ छपाई करा लें, तो अच्छा है।

ऐपि० इण्डि० १५,१६ Vol. में—

नरेन्द्रसेन वैयाकरण—प्रमाणप्रमेयकलिका का कर्ता— १५

नरेन्द्रसेन का गुरु कनकसेन, इसका गुरु अजितसेन। नरेन्द्रसेन ने चान्द्र, कातन्त्र, जिनेन्द्र शब्दानुशासन, ऐन्द्र और पाणिनि पर अधिकार किया। वह शक ९७५ में हुआ।

भागुरेः लोकायतिकस्य[1]

लोकायति[क] पर मेरा सन्देह था— २०

कल पण्डित ईश्वरचन्द्र जी ने काशिका के **चार्वी**[2] शब्द पर विवरणपञ्जिका में

ब्रह्मगार्ग्यप्रणीतं लोकायतशास्त्रम्[3] पाठ बताया। यह शास्त्र राजनीति पर होगा। नास्तिकता पर नहीं। नोट करलें। और बड़ी बातें पढ़ चुका हूं। 'दिव्यं वर्षसहस्रं' का अर्थ अवश्य लिखें। २५

उत्तर लौटती डाक दें। मूल ग्रन्थ कितना दोहराया है। पहले से

---

१. इस विषय में 'सं० व्या० इ०' भाग १, पृष्ठ १०५, टि० १-२ देखें।

२. यह पद काशिका १।३।३२ तथा ३६ में प्रयुक्त है।

३. यह पाठ विवरणपञ्जिका (न्यास) में १।३।३२ तथा ३६ पर नहीं है।

कितना उत्तम हुआ। १५२ पृष्ठों[1] में कितनी मौलिक सामग्री बढ़ी। जानने की उत्सुकता है। भ० दत्त

(१०)

ओम्

Shri Satya Shrava
Central Asian Museum
Queensway
New Delhi
२२ ८-४८

प्रियवर पं० युधिष्ठिर जी,

नमस्ते। मेरी लिखी सब टिप्पणियां उसी समय मूल प्रति पर सुरक्षित कर लिया करें। आपका लिफाफा नहीं मिला था।

"दैवमीमांसा=दैवतकाण्ड माध्वाचार्य के अनुसार शेष और पैल का है। दोनों बादरायण के शिष्य थे। माधव ने दैवतकाण्ड के दो सूत्र उद्धृत किए हैं। ये बादरायण के कारण मूल ग्रन्थ में जोड़े गए। ये दोनों वेदान्तदेशिक ने शतदूषणी में दिए हैं। मुद्रित ग्रन्थ में ये नहीं मिलते। तत्त्वरत्नाकर में बादरायण के शिष्य काशकृत्स्न को दैवतकाण्ड का कर्ता लिखा है।" ग्यारहवीं अखिल भारतीय ओरिएण्टल कानफ्रेंस हैदराबाद, क्या आप छाप लेंगे। अब सायं ४ बजने लगे हैं। सायं की गाड़ी पूना जा रहा हूं। श्री बावा जी का काम है। उत्तर दे छोड़ें। २९ तक लौट आऊंगा। भ० दत्त

१९४१. पृ० ८५, ८६, लेखों के संक्षेप लेखक B. A. Krishna Swamy Rao, मैसूर."

काशकृत्स्न के काल का कुछ पता यहां से चलेगा। पूरे प्रमाण देख कर पूरा टिप्पण लिख लें। अथवा मूल में समाविष्ट करें। बच्चों का स्वास्थ्य लिखें। सरकार से कागज खूब मिलने की आशा है। बड़े अधिकारियों से मिला हूं।

---

१. यह पृष्ठ संख्या लाहौर में मुद्रित 'सं०व्या० शास्त्र का इतिहास' की है। वहां इतने ही पृष्ठ छपे थे। जो वहां देशविभाजन के समय नष्ट हो गये थे।

(११)

ग्रथ

c/o Sri Satya Shrava M. A.
Central Asian Antiquities
Museum
Queensway
New Delhi
३१-८-४८

श्री प्रियवर पण्डित युधिष्ठिर जी,

नमस्ते। परसों रविवार प्रातः मुम्बई से आ गया था। डा० बेलवैलकर जी से आप की बात न पूछ सका। उन्होंने भी बात नहीं की। प्रतीत होता है उन्होंने पढ़ा ही नहीं। ये सब लोग एक-देशीय पाण्डित्य रखते हैं।

वहां और अनेक विद्वानों से मिला। वैतान श्रौत का भाष्य लाया हूं।

काशकृत्स्न विषयक जो लिखा था, बस वहां उतना लेख है। उस पुस्तक में लेखों के संक्षेप मात्र हैं पूरा पता The Eleventh all India oriental conference Hyderabad-session 1941, Summaries of Paper (संक्षेप लेखों का) पृ० ८५, ८६, लेखक "The Daiva Mimansa, Mr. B. A. Krishna Swamy Rao, Mysore.

अब अधिक खोज करेंगे।

गीतासारमिदं शास्त्रं गीतासारसमुद्भवम्।
अत्र स्थितं ब्रह्मज्ञानं वेदशास्त्रसमुच्चयम् ॥५५॥
अष्टादश पुराणानि नव व्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम् ॥५७॥

No. 164 of 1883-84 of B. O. R. I.
भण्डारकर ओ० रि० इ० [पूना]

सरस्वती कण्ठाभरण २ जा प्रकरण प्रारंभ—सा च पाणिन्यादि अष्टव्याकरणोदित..........।

उद्धृत भारतीय विद्या—वर्ष ३. अंक १. पृ० २३२.

दुर्ग की निरुक्त टीका में भी देखें[1]। अष्ट व्याकरणों के होने की बात कब से चली। यदि दुर्ग में भी हैं तो पूज्यपाद और जैन शाकटायन नहीं गिने जाएंगे।

मैंने आप को पहले भी एक ताम्रपत्र अथवा शिलालेख से एक बात भेजी है। अब सारा प्रकरण, दोबारा लिखियें। भागवृत्ति के उद्धरण नहीं आए। उत्तर भी नहीं आया।[2] ५

आपका
भगवद्दत्त

(१२) १०

प्रियवर पण्डित जी[3]

नमस्ते। ऊपर[4] के नए टिप्पणों पर विचार करें। पाणिनि ही बौधायन आदि में वर्णित है। उस का काल विक्रम से २७०० वर्ष पूर्व पड़ने की आशा है। शौनक से कुछ पीछे पर उस का समकालीन।[5] १५

बौधायन श्रौत—प्रवरे ३—

भृगूणामेवादितो व्याख्यास्यामः‥‥‥पैङ्गलायना‥‥‥‥‥ वैहीनरयः‥‥‥‥‥काशकृत्स्नाः पाणिनिर्वाल्मीकि‥‥‥‥‥— आपिशलयः‥‥‥‥॥३॥

ज्यायान् कात्यायनः—बौधायन श्रौ० २३।७॥ सारा पाठ पढ कर तुलना करें, यदि कात्यायन के किसी ग्रन्थ में यह भाव मिले। २०

लौक्यं=बौ० श्रौ० १७।१८॥ लौक्यं—वेदमन्त्र में भी है। पाणिनीय प्रयोग लौकिकं है।

---

१. दुर्ग निरुक्तवृत्ति (१।१३) में **'व्याकरणमष्टप्रभेदम्'** पाठ है। आनन्दाश्रम संस्क० पृष्ठ ७४। २५

२. इससे आगे का पत्र भाग ग्रन्थ से सम्बद्ध न होने से छोड़ दिया है।

३. इस पत्र पर तिथि निर्देश नहीं है। ४. अगली टिप्पणी देखें।

५. पत्र में इससे आगे छपा अंश पत्र के आरम्भ में लिखा हुआ है। इस पत्र का प्रकृत ग्रन्थ से संबद्ध अंश ही यहां दिया है, शेष छोड़ दिया है।

(१३)

अमृतसर

१६-६-४८

प्रिय पण्डित युधिष्ठिर जी,

५ नमस्ते। आपका पोस्ट कार्ड मिल गया था। मैं आपको विस्तृत लिफाफा लिख चुका हूं।

१. ऋक्तन्त्रं सामतंत्रञ्च संज्ञाकरणमेव च।
धातुलक्षणकञ्च स्यादिति व्याकरणानि च।

गो० गृह्य० भट्टनारायण भाष्य सहित—टिप्पणी पृ० ६०३,६०४

१० २. एक कौत्स गो० गृह्यसूत्र ३।१०।४ में स्मृत

३. अभुञ्जति ब्राह्मणे। कौषीतकगृह्य ३।६।४४॥ इस पर भवत्रात भाष्य में—

अभुञ्जतीति किमेतद्रूपम्। ननु शत्रन्तं न भवति। परस्मैपदत्वात्। भुजोऽनवने इति ह्यात्मनेपदविधानम्। नैष दोषः। छान्दसमेतद्रूपम्।
१५ **छन्दोवत्सूत्रम्। अभुक्तवतीति वा पाठः।**

ऊपर[1] के प्रमाण यदि काम में आ सकें, तो उन से काम लें। मैं २८ ता० मंगलवार को प्रातः देहली पहुंचूंगा। आप किस तिथि तक आएंगे। इस पत्र का उत्तर देहली भेजें। मनीआर्डर देहली पहुंचा है। मैं जा कर लूंगा। इतिहास प्रतिदिन लिख रहा हूं। सत्या-
२० षाढ़ का प्रमाण कभी पढ़ा था। अब सर्वथा विस्मरण था। कल्पसूत्रों का इतिहास भी लिख रहा हूं। २० पृष्ठ की रूप रेखा बना ली है। जो प्रमाण मिले एकत्र करें और लिखते रहें। बच्चों को प्यार।

भ० दत्त

(१४)

१६-११-४८

२५ **राणायनीयानाम् ऋक्तन्त्रे प्रसिद्धा विसर्जनीयस्य अभिनिष्ठाख्या इति।** गोभिल गृह्य, भट्ट नारायण **भाष्य** २।८।१४॥

१. यहां छापे गये प्रमाण, पत्र में पत्र आरम्भ करने से पूर्व लिखे हुए हैं।

पूर्वेषां वतुर्णां गृह्णन्तीमुपयच्छेत् । गो० गृ० सू० २।१।७।।

गृह्णतीम् इति प्राप्ते गृह्णन्तीमिति छान्दसोऽयं प्रयोगः । भट्ट नारायण भाष्य—

वेद और ब्राह्मण में ऐसे प्रयोग देखें। पूरा विचार कर टिप्पण लिखें। कातन्त्र देख लें। ५

प्रक्षाल्य वैनेनोद्धृत्य—एनेन—छान्दस प्रयोग—

कल कागज पूछने जाऊंगा। रुपया ५००) आ चुका है। और आ रहा है। अब ग्रन्थ छपेंगे। ग्रन्थ अति सुन्दर बनाएं। पुस्तकें अभी न लें। कुछ काल पश्चात् एकत्र रह कर काम करेंगे। शाकटायन का प्रमाण वर्ता या नहीं। पूरा उत्तर लिखें। १०

भगवद्दत्त

(१५)

अथ

नई देहली

१७-१०-४८ १५

श्री पण्डित जी,

नमस्ते। पोस्टकार्ड मिला था। धन्यवाद।

यत्तूक्तविरुद्धार्थं शाकटायनवचनम्—
जलाग्निभ्यां विपन्नानां संन्यासे वा गृहे पथि ।
श्राद्धं कुर्वीत तेषां वै वर्जयित्वा चतुर्दशीमिति ।। २०

चतुर्वर्गचिन्तामणि, श्राद्धकल्प, हेमाद्रिकृत ऐशियाटिक सो० संस्करण, पृ० २१५। स्मृति चन्द्रिका में भी शाकटायन है। ध्यान करलें।

कापी लिखनी आरम्भ करें। ग्रन्थ को अति श्रेष्ठ बनाएं। वेमक-शाला पुनः भेजूंगा। स्वाध्याय से सूचित करते रहें। यह शाकटायन २५ शाखाकारों का साथी निकलेगा।

यहां कुशल है। पत्र लिखते रहा करें।

भगवद्दत्त

(१६)

अथ

नई देहली
१०-११-४८

५ प्रियवर पण्डित जी,

नमस्ते। ८ का कृपा कार्ड अभी मिला। कागज में अभी ८, १० दिन की देरी है। आते ही ५० रीम भेजूंगा। अब कोई त्रुटि न रहने दें।

१ इन्द्र, विवस्वान आदि के पिता कश्यप प्रजापति।

१० २. अदिति के पिता—दक्ष-

३. इन्द्र के भाई पुराण में देखें। इस समय बहुत शीघ्रता है, फिर लिखूंगा। भगवद्दत्त

(१७)

अथ

नई देहली
१५ १३-११-४८

प्रिय——

न०। ऐतरेय ब्राह्मण-आदि से अध्याय नवम—

देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन् ....यहां से
२० लेकर सब पाठ देखें। वायु भी वहां है। पूरा ऐतिहासिक स्थान है।

धाता" इन्द्र"
अर्यमा" विवस्वान्"
मित्र" पूषा"
वरुण" पर्जन्य"
२५ अंश" त्वष्टा"
भग" विष्णु"— वायु ६६।१३५[1]

१. द्र०—महाभारत आदि० ६६।१५-१६; हरिवंश पर्व १। अ० ३। श्लो० ४७, ४८; तथा भविष्य पुराण ब्रा० प० अ० ७८, श्लोक ५३। यु० मी०

ताण्ड्य २४।१२।४—

अग्नि, सोम इन्द्र के सगे भाई नहीं, पर वैसे भ्राता हैं।

शीघ्रता में यह लिख दिया है। कापी बड़ी सावधानी से लिखें। आयु के निर्वचन अवश्य दें। और बाते लिखें।

भ० दत्त ५

इटली के डा० टूची यहां हैं। वार्ता में बड़ा आनन्द रहा है।

भ० दत्त

(१८)

अथ

नई देहली १०

१३-१२-४८

प्रियवर पण्डित जी,

नमस्ते। चान्द्र व्याकरण पर एक प्राचीन वृत्ति श्री राहुल जी तिब्बत से लाए थे। वह पटना अद्भुतालय[1] में पड़ी है। उन्होंने उसके छाप लेने की आज्ञा दे दी है। १२ शती के अक्षरों में है। दो, १५ तीन दिन के अभ्यास से पढ़ी जाएगी। मैं आप के पटना जाने का प्रबन्ध कर दूंगा, सोच लें।

आज ५००) रु० का ड्राफ्ट श्री देवेन्द्र जी के लिए बन गया। और रुपया भी पड़ा है। कागज की अब चिन्ता नहीं। शीघ्र आप के पास पहुंचेगा। कल के पोस्ट कार्ड में लिख चुका हूं। २०

आपिशलि का काल—राणायनीय शाखा के पश्चात्—उनमें भी सात्यमुग्रीय प्रवचन हो गया था—उन दिनों वृत्तिकार भी थे। अतः यास्क से थोड़ा सा पहले अथवा भारत युद्ध से ७० वर्ष पूर्व ऐसी कोई और बात ढूंढ लें। अन्य काल भी बहुत स्पष्ट लिखें। आप यहां कब आ सकेंगे। शिक्षा सूत्र संग्रह अत्यन्त श्रेष्ठ है। पाणिनीय में स्वोपज्ञ भाग २५

---

१. बिहार रिसर्चसोसाइटी पटना में है। मैंने जाकर देखा है। प्राचीन मैथिली लिपि में है। वहां उस समय इसे पढ़ने वाला नहीं मिला।

कितना है और प्रोक्त भाग कितना है। चान्द्र में भी। इस पर विचार लिखें। चान्द्र ने पाणिनि की छोड़ी हुई बातें, पुरातन वैयाकरणों से कितनी ली हैं।

गोपथ ब्राह्मण के समय बहुत वैयाकरण थे। पाश्चात्य भाषा ५ विज्ञान पर चोट करें, स्थान २ पर।

पत्र डालते रहें, नई बातें लिखते रहें। कल दीवान बहादुर जी को लिफाफा डाल दिया था। उन से मिल लें।

भगवद्दत्त

(१९)

१० ओम्

नई देहली
२०-१२-४८

प्रियवर पण्डित जी,

नमस्ते। शाकटायन के टि० वाला कार्ड मिल गया था। १५ मेरा विचार है शाकटायन के अनेक सूत्र पुराने हैं। गंभीर विचार करें। इन्द्र ने छन्दः शास्त्र पढ़ाया इस का उल्लेख मैंने वै० वा० ब्राह्मण भाग में किया है। आपका १७ का कार्ड आज मिला। मनु के दिव्य वर्ष मुझे भी सौर वर्ष दिखाई देते हैं। मैंने पं० ईश्वरचन्द्र जी से यह बात की थी। देवों में सौर वर्ष चलता था। पारसी ग्रन्थों में लिखा है २० कि यम ने सौर वर्ष चलाया।

आप का विचार ठीक है। रूपरेखा दे दें। पर यहां आना पड़ेगा। डा० अग्रवाल जी को सूत्र पाठ दे दिया था। डा० रघुवीर जी यहां नहीं हैं। मैं २८ को कलकत्ता जा रहा हूं। आर्य महा सम्मेलन पर। ५००) रु० कागज का भेज चुका हूं। अभी श्री देवेन्द्रजी का पत्र कागज २५ चलने का नहीं आया। अब कागज पहुंचते ही शीघ्र काम कराएं। पत्र लिखते रहें। शिक्षासूत्रों में **कौशिकीयाः श्लोकाः** पर इतिहास में नोट लिखें। आपिशलि से पूर्व, वृत्तिकार कौन थे। सब लिखें। अब ग्रन्थ कितना सुन्दर हो गया है, अवश्य लिखें।

भगवद्दत्त

(२०)

ओम्

नई देहली

१३-१-४६

प्रियवर पण्डित जी, ५

नमस्ते। आपका १० का पोस्टकार्ड मिल गया था। धन्यवाद। कागज को बहुत देर नहीं लगेगी। यहां भी कागज आया है। परन्तु छपाई अजमेर में ही करानी है। व्याकरण इतिहास के दोनों भाग शीघ्र छपेंगे। वैदिक वाङ्मय भी वहीं छपेगा। पूछें यदि बाबूजी प्रबन्ध कर सकें, तो कागज ले कर भिजवा दूं। रुपया छपाई १० थोड़ा २ पहले भी दे सकेंगे। पं० जियालाल जी ने भी वचन दिया है। उन से अवश्य मिल लें। जो पत्र बाबू हरबिलास जी को लिखा था, उस संबध में कोई उत्तर नहीं आया। आप वाली योजना पर मत उसी पत्र में था।

बौधायन **धर्मसूत्र**—पृ० १७१ पर **आश्वलायनं शौनकं तर्पयामि**। १५ २।५।१४।। अतः

शौनक-आश्वलायन
|
पाणिनि
|
बौधायन

ऐसा क्रम जुड़ेगा। पाणिनि [को] शौनक के प्रथम दीर्घसत्र से ५० २० वर्ष पश्चात् रखें। पूरा काल मेरे इतिहास की सहायता से गिन लें।

सरस्वती वाला लेख एक दो दिन में भेजूंगा। उस में चमत्कार नहीं है। प्रत्येक ग्रन्थ का काल निर्धारण करना है। ऐसी ऊहा करें। अन्य प्राचीन ग्रन्थों से उस के प्रमाण खोजने हैं।

कलकत्ता में आप के मुद्रित पृष्ठ विद्वानों को सर्वत्र दिखा दिए हैं। २५ बहुत आवश्यकता है। शीघ्र छापें।

क्षितीशचन्द्र चैटर्जि एम० ए० ने जाम्बवती विजय पर एक लम्बा लेख लिखा था। वह मैं ले आया हूं। उसके पास भागवृत्ति के लगभग

५०० पाठ हैं। बहुत विद्वान् व्यक्ति है। मैत्रेय का हस्तलेख उस के पास है। उसे

१. भागवृत्ति संकलन

२. पंचपादी

३. आपिशलि आदि शिक्षाएं रजिस्ट्री भेजें। आगे से मेल रखें। संस्कृत कालेज तथा रायल ए० सो

Kshitish Chandra Chatterji M. A.
81 Shyambazar Street
Calcutta 4.

पुस्तक को बहुत परिमार्जित बनाएं। यह अवश्य लिखें, अब ग्रन्थ का रूप कैसा बन गया है। काल क्रम और तिथियां सुनिश्चित लिखें। व्याडि, शौनक से २० वर्ष पहले। लम्बी आयु, सब बातें विचार लें। योरुपीय भाषा विज्ञान पर कोई प्रबल नया आक्षेप निकालें। सभा[1] की बैठक कब है? तब अवश्य मिलूंगा। अभी लौटती डाक लिखें। **कात्य बौधायन धर्म [भी] भी स्मृत** है। देखलें। सब प्रमाण एकत्र कर दें। गोपथ ब्राह्मण का अपरपक्षीय कवि पाञ्चाल चण्ड[2] कौन था।

भ० दत्त

आपिशलि आदि चरण-प्रवचन के पश्चात् थे। शतपथ ब्राह्मण **अनुशासनानि—अथ शब्दानुशासन** आदि हैं। पहले सब शासन था पुनः अनुशासन—

भ० दत्त

(२१)

ओम्

नई देहली
२०-१-४९

प्रियवर पं० जी,

नमस्ते। पो० मिला। धन्यवाद **छान्दसा अपि लोके प्रयुज्यन्ते—**

---

१. अर्थात् परोपकारिणी सभा अजमेर की बैठक।

२. अथापरपक्षीयाणां कविः पञ्चालचण्डः परिपृच्छको बभूव। गो० ब्रा० १।१।२७॥

इति बाण प्रयोगात्। अमर टीका सर्वस्व २।६।५४।। पृ० १६८।

आवश्यक स्थान है, देख लें। कागज का अभी पता नहीं लगा। आप मुम्बई लिखते रहें। मैं रविवार २३ को अमृतसर जा रहा हूं। शिवरात्रि पर मैं पहुंचूंगा।

भाषाविज्ञान पर सर्वत्र चोट करें। और गहरी खोज निकालें। ५

भ०दत्त

इति कालापाः अमर० टीका सर्वस्व ३।१।३४।।

(२२)

अथ

नई देहली १०
प्रातः ८ बजे २२-१-४६

प्रिय……

"न सज्जते हेमपाङ्के"—अष्टाङ्ग हृदय, सूत्र स्थान ७।२८।।

सर्वाङ्ग सुन्दरा टीका—**सज्जत इत्यत्रात्मनेपदं चिन्त्यम्**।

हेमादि—**सज्जत इति पाठे सङ्गार्थक-षज्जेरात्मनेपदत्वं चिन्त्यम्**। १५

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसा प्रयोग खोज कर तुलना करें।

पूरा नोट कर लें।

पं० जियालालजी को मिलकर २६ रात्रि और २७ रात्रि को दो व्याख्यान रखा दें। मैं पहुंच रहा हूं। २०

कागज का अभी पता नहीं। मुम्बई का टाईप अवश्य मंगालें। वै० वाङ्०—छपेगा। आप भी उसके लिए सामग्री देखते रहें।

भगवद्दत्त

(२३)

ओम् २५

नई देहली
४-२-४६

प्रिय………

नमस्ते। एक का कार्ड ३ को कल मिला। कागज भेजने का

प्रबन्ध कर रहा हूं।

पवज्जन्ति—गउडवहो—८७१। पृ० २४४. (दूसरा संस्करण)।

टीका—वनाद् वनान्तरं प्रव्रजन्ति। व्यतिकरो भावः। पहम्मन्तीति पाठे हम्मतिः कम्बोजेषु प्रसिद्ध इति—पृ० २४५

५ यथास्थान लिख लें।

अब आप से मिलने को मन करता है। आप के ग्रन्थ का अन्तिम रूप देखना चाहता हूं।

बारह देव—हरिवंश पर्व १, अध्याय ६ श्लोक ४७,४८।

धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग

१० इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा, विष्णु।[1]

मुम्बई पूछते रहें कागज कब चलेगा। आप का ग्रन्थ डा० रेनो पेरिस को दिखाया था। तत्काल चाहते हैं।

यदि दीवनबहादुर जी ने मान लिया, तो आपके पास ही रहूंगा। नई खोज करते रहें।

१५ [आगे का अन्य से सम्बद्ध कुछ अंश छोड़ दिया है]

भगवद्दत्त

(२४)

ओम्

नई देहली

२० ५-२-४६

शीताः सपृषतोद्दामाः कर्कशा वान्ति मारुताः

हरिवंश, विष्णुपर्व, १०।३८॥

सपृषतः सबिन्दवः। उद्दामाः महान्तः। सपृषतोद्दामा इति सन्धि-राषः। नीलकण्ठ टीका

२५ प्रयोग कर लें।

४०) रु० स्वीकार हैं। ग्रन्थ लाहौर सदृश छपे। कागज शीघ्र

---

१. द्रष्टव्य, पृष्ठ १५० पर छपा पत्र और उसकी टिप्पणी १।

भेज दूंगा। पं० जियालाल जी से आप मिले या नहीं। मिल लें और उत्तर दें। शेष मिलने पर। [भ०दत्त]

(२५)

अथ

नई देहली ५
रात्रि ५-२-४६

बृहद्देवता २।६५॥ तथा ८।६० में शाकटायन को आचार्य लिखा है। वह संभवत: ऋषि नहीं था। विचार की कोई बात सूझे, तो शीर्षक दे दें।

शौनक को भी आचार्य कहा है [बृ० दे०] २।१३६॥ यास्क भी १० आचार्य [बृ० दे०] १।१३२। कदचित् दोनों पढ़ाने वाले थे।

यद् यत्स्याच्छान्दसं मन्त्रे तत्तत्कुर्यात्तु लौकिकम्॥
बृहद्देवता २।१०१॥

शौनक के काल में छान्दस और लोक का कितना भेद था। विचार कर कुछ लिखें। यह भेद कब से चला था। १५

बृहद्देवता ४।११३॥—

तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्।

यहां ब्राह्मी और सौरी दो वाक्—इन का भेद। क्या सौरी वही है जिसे नाटय शास्त्र की टीका में देवों की वेदशब्दबहुला लिखा है।

पाणिनो बभ्रवश्चैव ध्यानजप्यास्तथैव च। २०
पार्थिवा देवरातश्च शालङ्कायनसौश्रवाः॥ हरिवंश १।३२।५७॥

शाकटायन के २३ उपसर्ग, बृहद्देवता २।६४,६५ अवश्य दे दें।
भगवद्दत्त

(२६)

नई देहली २५
रात्रि ६ बजे
६-२-४६

धन्यवाद। कार्ड आज मिला। भाषा सम्बन्धी बातें सब सुरक्षित रखें।

येन देवस्त्रियम्बकः ।। शान्तिपर्व ६६।३३।। कुंभघोण संस्करण। १०-२-४६—प्रातः ६ बजकर २० मिनट। टिप्पणी में यह प्रमाण लिख लें।

५ शान्तिपर्व अध्याय २२४।६७ से शब्द अर्थ का विषय। क्या श्वेतकेतु ने भी इस विद्या पर लिखा था। अन्वेषणीय है। यह श्वेतकेतु औद्दालाकि, न्यायविशारद था—[शान्तिपर्व] २२४।२५।।

आप की कापी कितनी शुद्ध हो चुकी है। कागज का मुझे अभी कोई पता नहीं आया। आप श्री पं० जियालाल जी के पास गये बहुत अच्छा किया। उनका पत्र मिलने पर लिखूंगा।

१० **भ० दत्त**

(२७)

अथ

नई देहली
रात्रि १० बजे ४-३-४६

१५ आज के लिफाफे की पहुंच अवश्य लिखें। किसी अन्य के हाथ से डाक में पड़ा है—

१. **त्रियम्बकं**, बोधायन गृह्यशेष सूत्र ३।१२।। पृ० २६६

२. **त्रियहे पर्यवेतेऽथ**—बौ० गृ० शेष ५।२।। पृ० ३६२

त्र्यहे के स्थान में—

२० प्रातः ५-३-११ बजे २५ पृष्ठ तक की प्रेस कापी भेज रहा हूं। लौटती डाक पहुंच लिखें। रजि० भेजी है।

पूर्ण शुद्ध कर अन्तिम प्रूफ मुझे भेजें। स्वयं भी पढ़ लें। अपने छपे फार्म भेजें।

भ०दत्त

२५ लौटाया कार्ड मिल गया। प्रेस कापी में एक पृष्ठ अधिक है, जो आप के पास पहले था, उसे ठीक कर लें।

(२८)

ओम्

नई देहली

१६-१२-५०

प्रियवर पं० यु० जी नमस्ते ५

कातन्त्र परिशिष्ट श्रीपत्तिदत्तकृत में भागवृत्ति के लगभग १५० पाठ हैं। ढूंढिये। और लिखिए। इस विषय का लेख 'आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस, बनारस, १९४३-४४, मुद्रित ग्रन्थ १९४६, पृष्ठ २७३ से है।

क्रमदीश्वर का सूत्र है—कृति षष्ठी वेति भागवृत्तिः।[1] १०

सुपद्ममकरन्द विष्णुमिश्र कृत में लगभग २० पाठ हैं।

भागवृत्ति नाम का कारण—दो भागों में थी। छन्दोभाग, भाषा-भाग।

गोयीचन्द्र—**अत एव भाषाभागे भागवृत्तिकृत् ...... शे इति सूत्रं छन्दो भागः।** १५

इसका दूसरा नाम **अष्टकवृत्तिकृत्।**

भागवृत्ति को काशिका एकवृत्ति की तुलना में भागवृत्ति कहा है।

S. P. भट्टाचार्य इस लेख में कातन्त्र के दोनों दुर्ग एक मानता है।

यह लेखक सन्देह करता है कि भागवृत्तिकार इन्दु था।

मेरे गत कार्ड का भी उत्तर दें। अब शेष $1\frac{1}{2}$ फार्म रहा प्रतीत २० होता है। अन्तिम प्रूफ आर्डर करके मुझे लिखें। भागवृत्ति सम्पूर्ण करके सुन्दर मोटे कागज पर छाप दें[2]। कातन्त्र परिशिष्ट जहां हो मैं मंगवा दूं। सब बातें पूर्ण और स्पष्ट लिखें। व्या० इ० के परि-शिष्ट में आवश्यक बातें लगा दें अभी मैं यहीं रहूंगा।

भ० दत्त २५

---

१. 'भागवृत्तिसंकलनम्' में सूत्र २।३।१२ पर उद्धृत। द्र० पृष्ठ १५। सं० २०२१।

२. भागवृत्तिसंकलनम्' का अन्तिमरूप से संकलन सं० २०२१ में मैंने अजमेर में छपवाया था।

(२९)

१।२८ पंजाबी बाग
पोस्ट शकूरबस्ती R.S.
दिल्ली—६
७-८-६२

५

प्रिय पण्डित जी

नमस्ते। आपका कार्ड तीन दिन हुए मिला।

१. शान्तिपर्व १२२।४७ में सात वेदपारगों का कथन है।

२. अगस्त्य के १२ शिष्य थे। उन में एक पणंपारणार था। उस
१० ने तमिल व्याकरण लिखा। उसके ग्रन्थ का आधार ऐन्द्र व्याकरण था। तोलकाप्पियं पर इसी पणंपारणार का भूमिकात्मक वचन है।'

'यह तोलकाप्पियं ईसा से बहुत पूर्व का ग्रन्थ है। इसमें पाणिनीय शिक्षा के श्लोकों का अनुवाद है।'

१. देखो P. S. सुब्रह्मण्य शास्त्री, M. A. Ph. D. का लेख I.
१५ O. R. Madras, 1931 p. 183—

उद्घाटन अभी नहीं हुआ। ७ अकतूबर को विचार है। पुस्तक शीघ्र छाप लें। यदि हो सकें तो मेरी पुस्तकों के पैसे भेजें। बहुत आवश्यकता है। अपना पूरा पता सदा लिखें। सब का नमस्ते। निरुक्त भाष्य लिख रहा हूं।

२०　　भगवद्दत्त

(३०)

[1]कोषकल्पतरु में पृष्ठ ६५ पर

षष्ठिश्रावी भर्तृहरिवृत्तिः सूत्रार्थबोधिका

D. C. sircar, studies in the Geography of ancient &
२५ medieval India.

---

१. यह अंश श्री पं० भगवद्दत्तजी के हाथ का कागज के एक टुकडे पर लिखा हुआ मेरे पास सुरक्षित रहा। उसे ही ऊपर दिया है।

(३१)

श्री पं० पद्मनाभ राव जी के पत्र

श्री परम सुहृद् पण्डित बी० एच० पद्मनाभ राव जी के साथ मेरा पत्र-व्यवहार सन् १९५९ में आरम्भ हुआ था। उस समय मैं ऋषि दयानन्द की जन्मभूमि 'टंकारा' (सौराष्ट्र) में 'दयानन्द शोध-विभाग' के अध्यक्ष पद पर कार्यनिरत था। श्री माननीय पण्डित जी अनेक शास्त्रों के तलस्पर्शी विद्वान् हैं। आपके साथ पत्र-व्यवहार प्रायः शास्त्रीय विषयों पर ही होता है। आपके द्वारा प्रेषित पत्रों की संख्या तो बहुत अधिक रही, परन्तु उनमें से १०-१२ विशिष्ट पत्र ही मेरे पास सुरक्षित हैं। उनमें से जिन पत्रों में आपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के विषय में उपयोगी सुझाव वा सामग्री प्रस्तुत की हैं, उन्हें मैं नीचे दे रहा हूं—

॥ श्रीः ॥

Atmakur
Kurncol

10-11-63

श्रीमन्तः पण्डिताग्रण्या मीमांसकमहोदयाः !

नमोनमः। भवत्प्रहितं पुस्तकचतुष्टयं समासादितम्। धन्यवादास्तदर्थम्। अपिनाम कुशलमत्र भवतां कारुण्येन कमलासहायस्य, सं० व्या० इतिहासस्य तृतीयभागस्य प्रचुरणं भवेदिति विज्ञाय तत्र सन्दर्भे किमपीदमुपयोगाय कल्प्यत इति निम्नोद्धृतं प्रहितं भवति। ज्ञात्वेदं भवन्त एव मानम्।

(१) श्रीमदुत्तरादिमठाधीशैः श्रीसत्यप्रियतीर्थस्वामिभिः (क्री० १७३७-१७४४) महाभाष्यस्य विवरणं विरचितम्। (हस्तलेखोऽस्ति)

(२) साताराग्रामवास्तव्यै राघवेन्द्राचार्य्यगजेन्द्रगढ़कर् इत्येतैः (त्रिपथगाकारैः) महाभाष्यस्य व्याख्या विरचिता। कालश्चैषां निश्चित एव।

(३) गोदावरीतीरस्थधर्मपुरीनिवासिभिरान्ध्रेषु लब्धजन्मभिः छलारीनरसिंहाचार्य्यैः शाब्दिककण्ठमणिरिति भाष्यव्याऽकारि। जीवनसमय एषां सप्तदशशतकस्यपश्चार्द्धभाग इति तु निर्विवादम्।

(४) सं० व्या० इ० पृ (३९६)[1] आदेन्न=आदीति नामैकदेशग्रहणादयम् आदिनारायणो वाऽऽदिशेषो वा भवेत्। व्यवहारश्चायमान्ध्रेषु सर्वथा सुलभः। अन्न, अप्प, अय्य, अम्म एवमादिभ्रात्रादिवाचिनश्शब्दा नाम्नामन्ते निवेशनमेवात्र सम्प्रदायः। अतः "?" प्रश्नार्थकचिह्नकरणस्यावश्यकतैव नास्तीति निवेदनम्।

(५) व्याकरणदर्शनसम्बद्धग्रन्थवर्णने म०म० सेतुमाधवाचार्य्याणां श्रीव्यासपाणिनिभावनिर्णयस्य, तत्त्वकौस्तुभकुलिशस्य च निवेशनमपि भवेदिति।[2]

(६) म० म० गिरिधरशर्म्ममहाभागानां महाभाष्यभूमिकायां विमृष्टानां केषाञ्चिदंशानां पुनः सुदृढो विचारो भवेत्।

(७) अप्पय्यदीक्षितस्य कालः[3] A. D. 1520–1593 इति केचित, अपरे तु A. D. 1553-1626 इति। अत्र प्रथमः पक्ष एव ज्यायान् इति भाति। अप्पयदीक्षितः तञ्जावूरुनायकस्य शेवप्पनायकस्य सभामलञ्चकार श्रीविजयीन्द्रतीर्थताताचार्य्याभ्यां सह। श्रीविजयीन्द्रतीर्थेभ्यः शेवप्पनायकः A D. 1580 तमेऽब्दे ग्रामदानं चकार (Mysore archaeological repoıt. 1917)। तत्र च श्लोकोऽयमुद्धृतः—

> त्रेतागन्थ इव स्पष्टं विजयीन्द्रयतीश्वरः।
> ताताचार्य्यो वैष्णवाग्र्यः सर्वशास्त्रविशारदः॥
> शैवाद्वैतैकसाम्राज्यः श्रीमान् अप्पय्यदीक्षितः।
> तत्सभायां मतं स्वं स्वं स्थापयन्तस् स्थितास्त्रयः॥

(८) सं०व्या०इ० (पृ० ४७८)[4] अप्पननैनार्यस्य कालोऽज्ञात इति

---

१. यह पृष्ठ संख्या 'सं० व्या० इ०' के प्रथम भाग के द्वितीय संस्करण की है। तृतीय संस्करण में इस पत्र के अनुसार ठीक कर दिया है (द्र० पृष्ठ ४२८। च० सं० ४७०)।

२. इस ग्रन्थकार और उसके ग्रन्थ का निवेश नहीं हो सका। इसका खेद है।

३. हमने 'सं० व्या० शा० इ०' के प्रथम भाग के द्वि० सं० पृ० ४५०-४५२ तक अप्पय्य दीक्षित के काल पर विचार किया था। तृ०सं० पृष्ठ ४९२ (च० सं० पृष्ठ ५३८) पर नाम निर्देश पूर्वक आगे प्रतिपादित मत उद्धृत कर दिया है।

४. यह पृष्ठ संख्या 'सं० व्या० शा० इ०' के द्वि सं० के प्रथम भाग की

लिखितम् । समयोऽस्य सर्वथा निश्चितो भवति । आन्ध्रेषु वैयाकरणत्वेन विख्यातः नैनार्य्यपदाभिधेय एक एवास्ति । अयं नैनार्य्यः=नायनार्य्यः अप्पनापरपर्य्यायः । अप्पन=अप्पण=अप्पल=अप्पळ । श्रीविजयनगरसाम्राज्याधिपस्य श्रीकृष्णदेवराय सार्वभौमस्य सभापण्डितस्य (.................)[1] अष्टदिग्गजेष्वन्यतमस्य तेनालिरामलिङ्ग- ५ महाकवेर्व्याकरणविद्यागुरुर्वैष्णवदासाभिधेय इति । तस्यैव रामलिङ्गमहाकवेः "पाण्डुरङ्गविजयमु" इति ख्यातस्य महाकाव्यस्यादौ स्पष्टं लिखितम् । तस्य वैयाकरणत्वम्—"**अपशब्दभयं नास्ति अप्पलाचार्य्यसन्निधौ**" इति श्लोकांशेन सुव्यक्तम् । अतः कृष्णदेवरायसमकालिकोऽयं नैनार्यः=नायनार्यः=अप्पलनायनार्यः=अप्पननायनार्यः । सर्वत्र १० अप्प=अन्न=नायन=अय्य=आर्य एवमादीनि पूज्यवाचकभ्रात्रादिवाचकानीत्युक्तं प्राक् ।

(९) यण्व्यवधानपक्षस्य प्रमाणान्तरमिदमवधार्य्यताम्[2]—

"**यामाहुरनमां केचित् त्रियाद्यवयवात्मिकाम्**" श्रीमध्वाचार्य्याणां विष्णुतत्त्वविनिर्णयस्य वचनम् । तत्र **जयतीर्थटीका—त्रियम्बकं यजामहे, भूवादयो धातव** इत्यादिप्रयोगसिद्धयर्थं यणागमोऽपि कैश्चिद् व्या- १५ ख्यातः । ततस्त्रियादीत्युपपन्नम् ।" उक्तटीकायाः श्रीनिवासतीर्थीयटिप्पने="**यणागमोऽपीति**=न केवलं यणादेश इत्यर्थः । अन्यथा त्रीण्यम्बकानि चक्षूंषि यस्यासौ त्र्यम्बकः, भू आदयो भ्वादय इत्येव स्यादिति भावः । तथा च इकारात् परं यणागमे त्रियादीति साध्विति- २० **द्रष्टव्यम्**" ।

(१०) पाणिनेः श्लोकानामुद्धरणं पत्रेणानेन सह प्रहितम् ।[3]

है । तृतीय संस्करण में पृष्ठ ४९२-४९३ (च० सं० पृष्ठ ५३८) पर नामोल्लेख पूर्वक आगे का कुछ अंश दे दिया है ।

१. अत्र कोष्ठे किमपि तेलगुलिप्यां लिखितमस्ति । अतस्तत्र ··चिह्नं दत्तम् । २५

२. यह अंश सं० व्या० शा० इ० में सन्निविष्ट करना रह गया ।

३. इस पत्र के साथ पाणिनि मुनि के जाम्बवती विजय के १५ श्लोक भी श्री पं० पद्मनाभ राव जी ने भेजे थे । वे सब तृतीय भाग के छठे परिशिष्ट में संगृहीत श्लोकों में आ गये हैं । अतः यहां नहीं दिये हैं । द्र० श्लोक संख्या २१, १४, २२, १०, २७, २३, २६, १२, २४, २०, १८, १५, १६, १७, २५ ॥ ३०

सर्वमिदं सम्यक् पर्य्यालोच्य यद्रोचते तद् ग्राह्यम् यन्न रोचते तत् त्याज्यम् ।

श्रीमन्तोऽत्रभवन्तस्सर्वथा स्वस्तिमन्तो भवन्तु देवदेवस्य दययेति नित्यमाशासे ।

५ [1]अपरञ्च—अष्टोत्तरशतनाममालिकायाम् Page 32 "ॐ तत्व-वाची·········पदोदितः । तत्र टिप्पने" पाठ भ्रष्ट है । शुद्धपाठ अन्वेषणीय ।" इति लिखितम् । शुद्ध पाठस्तु—

"ओतत्ववाची ह्योंकारो वक्त्यसौ तद्गुणोतताम् ।
स एव ब्रह्मशब्दार्थो नारायणपदोदितः ।"

१० श्रीमध्वाचार्य्याणाम् अनुव्याख्याने । तस्य व्याख्यायां न्यायसुधायाम्—"**ओतत्ववाचीति**=हिशब्दो हेत्वर्थे । ॐकारस्तावद् ओतत्वस्व=गतत्वस्य=प्रविष्टत्वस्य वा वाचकः" । प्रथमचरणे ॐ इति न्यासोऽनुचितः । द्वितीये खण्डे वन्द्यसौ इत्यपि नोचितः, "वक्ति+असौ =वक्त्यसौ ।" अयं हि शुद्धः पाठः । तत्रैव Page 188" **नयज्जा-**

१५ **तानी**"ति श्लोकः श्रीमध्वाचार्याणामित्युक्तम् । तच्च कस्य ग्रन्थस्येति न स्पष्टम् । तत् तु स्पष्टीभवितुमर्हति । तत्रैव Page 74 विष्णुपदनिर्वचने श्रीमध्वाचार्यमतोपन्यासे तेषां ग्रन्थसङ्केतादिकमपि स्पष्टं वर्णनीयम्, अन्यथा मुधैव स्यात् श्रीशास्त्रिणां रचनाप्रयासः ।

एवं निवेदयन् विरमति विदां विधेयः **पद्मनाभः**

२० **B. H. Padmanabh Rao Atmakur (Kurnul)**

(३२)

॥ श्रीः ॥

Atmakur
12-11-63.

२५ श्रीमत्सुमहाभागेषु प्रणामपुरःसरा विज्ञप्तिः ।

अप्पनन्नैनार्य के बारे में मैंने लिखा था । इस विषय में और

---

१. यहां से अगला संदर्भ श्री पं० विद्यासागर रचित 'अष्टोत्तरशतनाममालिका' ग्रन्थ, जिसे मैंने छपवाया था, के साथ संबद्ध है ।

भी गवेषणीयांश है जो आगे लिखूंगा। तब तक इसे विचारणीय कोटि में ही रखें।

इत्यलम्
आपका
वशंवदः ५

B. H. Padmnabha Rao Atmakur

(३३)

श्रीः।

आत्मकूर
(कर्नूल) १०
३०-१०-७३

अयि पण्डितपञ्चाननः! सादरं नमोऽस्तु। उभयतः कुशलमेव तनोतु देवः। प्रकृतोदन्तस्तु—

श्रीमद्भिरत्र भवद्भिर्मण्डनमिश्रविषये सं० व्या० इ० २ भाग, (४१० पृष्ठ[1]) हिन्द्यां यदलेखि तत्सर्वथा समीचीनमिति। श्रीकूडली- १५ मठाधीश्वराः श्रीमत्सच्चिदानन्दभारतीस्वामिनः कदाचिद् वार्ता-प्रसङ्गे मय्येवं समसूचयन्—'कामशास्त्रपरिज्ञानार्थं श्रीमच्छङ्कराचार्य्यैः परकायप्रवेशोऽकारीति सन्दर्भो मिथ्यैव। केनापि········ परमत-विद्वेषदग्धान्तरङ्गेण प्रायेण माध्वेन काव्यमेतद् व्यधायि तेषां यशः कलङ्कयितुम्" इति। २०

श्रीसच्चिदानन्दशंकरभारतीस्वामिनस्तु श्रीमदाद्यशङ्कराचार्य्याणां शृङ्गेरीमठस्यैव शाखामठस्याधीश्वरा इति विज्ञेयम्

व्याकरणदर्शनग्रन्थेतिहासे—

श्रीमन्मण्डनमिश्रप्रणीतो भावनाविवेकाख्यो ग्रन्थो विचारपदवीं

---

१. यह पृष्ठ संख्या द्वितीय भाग के सं० २०३० में छपे संस्करण की है। २५ प्रकृत संस्करण (सं० २०४१) में पृष्ठ ४४८ पर श्री माननीय पण्डित जी का नामोल्लेख पूर्वक इस पत्र का उल्लेख करते हुए पत्रस्थ विषय हिन्दी भाषा में दे दिया है।

नारोपि श्रीमद्भिः। धात्वर्थनिरूपणपरोऽयं ग्रन्थः भावनाविवेको भट्ट-श्रीउम्बेककृतया व्याख्यया सहितः काश्यां सरस्वतीभवनसीरोजतः Vo. 6 द्वारा प्राकाश्यमनायि म० म० श्रीगङ्गानाथशर्मभिः (१६२२ A. D)

५ प्रकृतोंऽशः श्रीमतां विचाराय प्रास्तवितम्।

देहो मे सुतरां दुर्बलः स्खलितलेखनीति बहु लेखयितुं नैव पारयामि।

भवदीयः पद्मनाभः

पाठान्तरसूच्यादियुतोऽष्टाध्यायीसूत्रपाठो विक्रयार्थं सज्येत तर्हि प्रेष्यताम् –

१० मया कश्चिदाङ्गललेखोऽत्र प्रहीयते। उम्बेक-कुमारिल-मण्डनादि-विषये। श्रीमद्भिरेतल्लेखानुसारं सूक्ष्ममीक्षणीयम्। कुमारिलस्य शिष्य उम्बेकः=भवभूति अथवा मण्डनः?

(३४)

श्रीः।

१५ आत्मकूर

॥ श्रीहरिशरणमस्तु ॥ (कर्नूल जि०)

२-४-७७

अयि बान्धवा मे सुहृदः!

अजस्रं मे सन्तुतमां नमांसि सहस्रम्। कुशलं हि नस्तच्च भवदीय-

२० मप्याशासेऽनिशम्। प्रकृतन्तु—

सं० व्या० इतिहास भाग २ पृष्ठ ४०९[1] इत्यत्र वाक्यपदीयस्य वाक्यप्रदीप इत्यपि व्यवहार आसीदिति 'बूहलर'-वचनं प्रमाणतयो-पन्यस्तम्। तत्रैव प्रमाणान्तरम्—

'भर्तृहरिरप्यमुमेवार्थवाक्यप्रदीपे प्रादर्शयत् साकाङ्क्षावयवं

२५ भेदे ······वाक्यविदो विदुः। इति (काण्ड २ श्लोक ४) इति तत्त्वोद्योतटिप्पण्यां नारोपन्तीये समुदटङ्कि।

१. यहां पृष्ठ संख्या ४०१ होनी चाहिये। यह पृष्ठ संख्या सं० २०३० में छपे संस्करण की है। प्रस्तुत संस्करण (सं० २०४१) के पृष्ठ ४३८ में इस पत्र के निर्देश पूर्वक पत्रस्थ विषय का उल्लेख कर दिया है।

अयं हि नारोपन्तः (नारायणपण्डितः) षोडशक्रुष्टीयशतके (16Th. Century A. D) पुणतांबा (गोदावरीत्तीरवर्त्ती ग्रामः) नगरमलंच-कारेति ज्ञायते। अतः सत्यमेवाभाणि बूलहरमहाभागेनेत्यवगन्तव्यम्।

शेषमन्यत्कुशलम्। क्षेमपत्रं प्रदीयताम्।

भवतां वशंवदः ५

From: पद्मनाभः

B. H. Padmanabh Rao

Atmakur P O. 518422

Dist:-Kurnool (A. P.)

(३९) १०

॥ श्रीः ॥[1] आत्माकूर ६-१२-८४

=श्रीहरिश्शरणम्मम=

अयि पण्डितेन्द्राः !

सनमस्यं निवेदयामि—सं० व्या० इ० शाबरभाष्यश्रौतपदार्थ- १५ निर्वचनपुस्तकानि श्रीजीवाराममहाभागाः प्राहैषुर्न पुनस्तेषां मूल्यं कियद्वा प्रेषणीयमिति समसुसूचन् तदर्थमर्थये। प्रकृतन्तु—

व्याकरणैतिह्यग्रन्थे निम्नोट्टङ्कितानां ग्रन्थानामप्यवश्यमुल्लेखो भवेदिति मे मनीषा। श्रुत्वा श्रीमन्त एव मानम्।

१) आचार्य हेमचन्द्र और उनका शब्दानुशासन—एक अध्ययन, डा० नेमिचन्द्रशास्त्री। २०

२) शब्दार्थरत्नम् (दार्शनिक) श्रीतारानाथतर्कवाचस्पतिः।

३) व्याकरणदर्शनभूमिका—श्रीरामाज्ञापाण्डेयः।

४) व्याकरणदर्शनपीठिका—श्रीरामाज्ञापाण्डेयः।

५) व्याकरणदर्शनप्रतिभा—श्रीरामाज्ञापाण्डेयः। २५

६) व्यासपाणिनिभावनिर्णयः—म० म० सेतुमाधवाचार्याः। (इदं पुस्तकं भवदर्थं मयैव प्रहितम् भवतां सङ्ग्रहे वर्त्तते।)

---

१. यह पत्र अभी छपते-छपते मिला है। इस भाग की भूमिका देखें।

७) शब्देन्दुशेखरव्याख्या-श्री म० म० सुब्बरायाचार्याः।
८) शेखरद्वयव्याख्या मद्विहिता सत्यप्रमोदिन्याख्या ।
९) लघुशेखरव्याख्या-एलमेलिविट्ठलाचार्याः ।

भावत्कं मित्रम् पद्मनाभाचार्यः

———

(३६)

श्री नाथूराम प्रेमी का पत्र

मैंने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ की प्रेस कापी लिखते समय आचार्य देवेनन्दीकृत जैनेन्द्र व्याकरण के सम्बन्ध में डा० काशीनाथ बापू जी और डा० बेल्वलकर के वार्षगण्यः पदसंबन्धी लेखों को देखा था। उसी समय श्री नाथूराम जी प्रेमी द्वारा लिखित 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थ भी देखा। उसमें श्री प्रेमी जी ने श्री बापू जी एवं डा० बेल्वलकर द्वारा निर्दिष्ट उद्धरणों एवं उन से निष्कासित परिणामों को स्वीकार किया है। इन सभी के लेखों में ३-४ भयङ्कर भूलें थीं। इन भूलों की ओर श्री प्रेमी जी का ध्यान आकृष्ट करने के लिये मैंने ८ अगस्त १९४८ को एक पत्र लिखा था। उसके उत्तर में श्री प्रेमीजी ने निरभिमनता एवं सहृदयता पूर्ण २१ अगस्त १९४८ को जो पत्र लिखा था, उसका प्रारम्भिक अंश 'सं० व्या० इतिहास' के देवनन्दी के प्रकरण में प्रथम संस्करण (सन् १९५०) में पृष्ठ ३२८[1] पर छाप दिया था। यहां उनका समग्र पत्र छापा जा रहा है।

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय

हीराबाग गिरगांव
बम्बई
२९-८-४८

प्रिय महाशय

आपका ता० ७ का कृपापत्र यथासमय मिल गया था। परन्तु अस्वस्थता के कारण अभी तक उत्तर न दे सका इसके लिये क्षमा करेंगे।

आपने मेरे जैनेन्द्र व्याकरण सम्बन्धी लेख में जो दो न्यूनतायें

---

१. प्रस्तुत संस्करण में यह अंश पृष्ठ ४९७ पर छपा है।

बतलाई हैं उन पर मैंने विचार किया। आपने जो प्रमाण दिये वे बिल्कुल ठीक हैं। इनके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूं। यदि 'जैन साहित्य और इतिहास'[1] को फिर से छपाने का अवसर आया तो उक्त न्यूनताएं दूर की जायेंगी।[2]

आपका संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास कब तक प्रकाशित हो जायगा। मैं उसकी प्रतीक्षा करूंगा।[2] ५

आपने जो न्यूनताएं बतलाई हैं उन्हें एक लेख के रूप में यदि आप 'अनेकान्त' या 'जैन सिद्धान्त भास्कर' में प्रकाशित करा दें, तो ज्यादा अच्छा हो।[3] जैन सम्प्रदाय के ये दो मुख्य पत्र हैं जिनमें ऐतिहासिक लेख विशेषरूप से प्रकाशित होते हैं। पहला 'सरसावा' (सहारनपुर) से और दूसरा 'आरा' (बिहार) से निकलता है। १०

अमोघावृत्ति जहाँ तक मुझे स्मरण है 'भारतीय ज्ञानपीठ' बनारस से प्रकाशित होने का प्रबन्ध हो रहा था। उनके पास हस्तलिखित प्रति होगी।

आपका १५
नाथूराम प्रेमी

(३७)

श्री पं० श्रीधर अण्णाशास्त्री का पत्र

श्री पं० श्रीधर अण्णाशास्त्री जी ने मैत्रायणीय प्रातिशाख्य का उल्लेख तथा उसमें उल्लिखित ऋषि-नामों का निर्देश श्री पण्डित दामोदर सातवलेकर २०

---

१. 'जैन साहित्य और इतिहास' ग्रन्थ का परिवर्धित वा परिष्कृत द्वितीय संस्करण सन् १९५६ में छपा। इस संस्करण में श्री प्रेमीजी ने वार्षगण्य संबन्धी प्रकरण निकाल दिया। (इस संस्करण की एक प्रति श्री प्रेमीजी ने मुझे सप्रेम भेंट रूप में भेजी थी)। वार्षगण्य संबन्धी लेख हटाने की सूचना भी मैंने सं० व्या० शा० इ० के द्वितीय संस्करण सं० २०२० में दे दी है। २५

२. सन् १९५० में प्रकाशित होने पर सं० व्या० शा० इ० की एक प्रति श्री प्रेमी जी को भेज दी थी।

३. कार्य बाहुल्य से लेख रूप में इन पत्रों में किसी को नहीं भेजा।

द्वारा प्रकाशित मैत्रायणी शाखा के प्रस्ताव में पृष्ठ १६ पर किया है। उसे देखकर मैत्रायणीय प्रातिशाख्य के विषय में मैंने श्री शास्त्री जी को १२ सितम्बर ४१ को एक पत्र लिखा था। उसका श्री शास्त्री जी ने जो उत्तर दिया वह इस प्रकार है

५ भाद्र. कृ. ५. गुरौ श्रीः[1] नाशिक
शके १८७०[2] क्षेत्रतः

सन्तु भूयांसि नमांसि। भावत्कं १२।६।४८ तनीनं कृपापत्रं समुपालभम्। आशयश्च विदितः। मैत्रायणीसंहिताप्रस्तावे 'आग्निवेश्यः ६।४, शांखायनः २।३।७, एवं क्वचित् द्वे संख्ये क्वचिच्च तिस्रः संख्याः १० निर्दिष्टाः सन्ति। सोऽयं संकेतः मैत्रायणीयप्रातिशाख्यस्य अध्याय-कण्डिका-सूत्राणामनुक्रमप्रत्यायक इति ज्ञेयम्। मैत्रयांयणी प्रातिशाख्यं मत्सविधे नास्ति, मयाऽन्यत आनीतमासीत्। मूसमात्रमेव वर्तते। यदि तत्रभवताऽपेक्ष्यते मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यं, तर्हि निम्नलिखित-स्थलसंकेतेन पत्रव्यवहारं कृत्वा प्रयत्नो विधेयः। ची रा० रा० भाऊ १५ साहेब तात्या साहेब मुटे पञ्चवटी, नासिक अथवा श्री रा० रा० शंकर हरि जोशी अभोणकर जि० नासिक, ता० कुलवण, पो० मु० अभोणे। एतस्मिन् स्थानद्वये मैत्रायणीयं प्रातिशाख्यमस्ति। एते महाभागास्तच्छाखीया एव। तत एवानीतं मया, कार्यनिर्वाहोत्तरं प्रत्यर्पितं तेभ्यः। एवमेव कदाचित् स्यर्तव्योऽयं जनः। किमतोऽधिकमिति २० विज्ञप्तिः।

भावत्कः

श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे

---

१. यह पत्र मैंने 'सं० व्या० शा० इ०' के द्वितीय भाग (संवत् २०१६) में पृष्ठ ३१७ (प्रस्तुत संस्क० में पृष्ठ ४०२) पर छापा है। वहां भूल से '५' २५ तिथि का निर्देश छूट गया है।

२. भाद्र कृ० ५ गुरौ शके १८७०, 'अमान्त' मासीय दाक्षिणात्य पञ्चाङ्ग के अनुसार है। उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार 'आश्विन कृ० ५ गुरौ, सं० २००५' जानना चाहिये।

(३८)

श्री पं० यन्० सी० यस् वेङ्कटाचार्य शतावधानी का पत्र

यन्० सी० यस्० वेंकटाचार्य,[1]
शतावधानी

७११२ महाकाली स्ट्रीट,
सिकन्दराबाद (आं० प्र०)
१३-२-१९६३ ५

प्रियमहोदयाः,

सादरप्रणामाः । भवद्भिः प्रेषितानि पुस्तकानि लब्धानि । किन्तु कार्यान्तरव्यग्रेण मया एतावत्पर्यन्तं पत्रं न प्रेषितम्। याचे क्षमध्वमिति ।

"संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास २ भाग", "गणपाठ की परम्परा", "पुरुषकारवार्तिकोपेतं दैवम्"—सर्वोऽपि ग्रन्थः महोपकारक एव। एतादृशानां ग्रन्थानां प्रकाशनेन सर्वानपि भारतीयान् ऋणिनः कुर्वन्ति भवन्तः, यथा कदापि केनाप्युपायेन तेषामानृण्यं न भवेत् । इत्थमेव नैकग्रन्थानां प्रकाशनं कर्तुं श्रीहयग्रीवदेवः भवद्भ्यः चिरायुरारोग्यभाग्यं देयादिति हार्दिकीं प्रार्थनां करोमि। १०, १५

यतः सम्प्रति व्याकरणशास्त्रेतिहासस्य प्रथमभागस्य पुनर्मुद्रणं क्रियमाणमस्ति, अतः हरदत्तमिश्रस्य विषये यत्किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति तद्विज्ञाप्यते । यदि भवते रोचते स्वीकृतं भवतु।

हरदत्तमिश्रस्याभिजनमान्ध्रदेश आसीत् । पदमञ्जर्यां देशभाषाशब्दानामप्रामाण्यं वदन् यथा "कूचिमञ्चीत्यादयः"[2] इत्युक्तवान्। २० "कूचिमञ्चि" इति आन्ध्रदेशे कस्यचित् कोणस्थग्रामस्य नाम । अद्यापि स ग्रामो विद्यते। पूर्वस्मादपि कालात् स ग्रामः विश्रुतानां

---

१. श्री वेंकटाचार्य का नामोल्लेख पूर्वक इस पत्र के उपयोगी अंश का निर्देश हमने 'सं० व्या० शा० इ०' के प्रथम भाग के तृतीय संस्करण के पृष्ठ ५१५ (प्रस्तुत चतुर्थ सं० पृष्ठ ५७५) पर कर दिया है। (दोनों संस्करणों में पत्र की तारीख १।३।६३ अशुद्ध छपी है) । २५

२. द्र० पदमञ्जरी 'अथशब्दानुशासनम्' के प्रारम्भिक भाग में। उस्मानिया विश्वविद्यालयस्थ संस्कृत परिषद् संस्करण, भाग १, पृष्ठ ४।

कविपण्डितानामावासः। यदि हरदत्तः आन्ध्रः, अपि च कूचिमञ्चि-ग्रामवासी नाभविष्यत् तदा यादृच्छिकवचने कूचिमञ्चीत्यान्ध्रदेशीयं ग्रामं नास्मरिष्यत्। द्रविडदेशीयस्य विषये सुतरामसंभवमेवेत्थं वचनम्।

५ **"तातं पद्मकुमाराख्यम्"** इति श्लोके पद्मकुमार इति **"ब्रह्मय्य"** नाम्नः संस्कृतीकरणम्; **श्रीरिति "लक्ष्मम्म"** इति नाम्नः, **अग्निकुमार** इति **"कोमरय्य"** इति नाम्नश्च। एषा संस्कृतीकरणरीतिः व्यक्ति-नाम्नामान्ध्रदेशे प्राचुर्येण वर्तते। पदमञ्जरीरचनाकाल एव केनचित् कारणेन हरदत्त, द्रविडदेशं गत. स्यादिति प्रतिभाति; **"लेट् शब्द-**
१० **स्तु वृत्तिकारदेशे जुगुप्सितः, यथा अत्र द्रविणदेशे निविशब्दः"**[1] इत्यु-क्त्या। यदि सः द्रविडदेशीय एवाभविष्यत् तदा **"अत्र द्रविडदेशे"** इत्यस्य स्थाने **"अस्मद्देशे"** इति वा "अस्मद्द्रविडदेशे" इति वा अवदिष्यत्। तस्य ग्रन्थान्तरेषु "तेमल्" इत्यादि द्राविडभाषापदानां समावेशेनैतदनुमातुं शक्यते यदेष आन्ध्रदेशे कूचिमञ्च्यग्रहारे जातः,
१५ पदमञ्जर्युत्तरभागरचनाकाले द्रविडदेशं गतः, शेषजीवितं चोलदेशे कावेरीतीरे प्रवचनादिकं कुर्वन् अयापयदिति। द्राविडपदसमावेशनमपि तथा कृतं यथा अद्रविडेन द्रविडदेशे प्रवचनसमये क्रियेत। **"तत्र द्राविडाः कन्यामेषस्थे सवितर्यादित्यपूजामाचरन्ति भूमौ मण्डलमा-लिख्य,** इत्यादीन्युदाहरणानि" (आप० धर्मसूत्रस्य उज्ज्वलावृत्तौ २
२० प्र० ११ पट० १६ सू०) इत्यादिवचनानि द्रष्टव्यानि।

अपि च शेषवंशीयानामपि आन्ध्रदेशीयत्वं प्रदर्शनीयमिति मन्ये। शेषवंशीया आन्ध्रभाषाकवयोऽप्यासन्।

अत्र भवतामभिप्रायं ज्ञातुमुत्सहे। अवकाशानुसारेण प्रत्युत्तरेणानु-गृह्णन्त्विति प्रार्थये। भवतामाशीर्बलेन वयमत्र कुशलिनः। तत्र भवतां
२५ क्षेमलाभादिकं शुश्रूषे।

विनीतः

वेङ्कटाचार्यः

१३-२-६३

अधोनिर्दिष्टे विषये तत्र भवतामभिप्रायः प्रार्थ्यते—

---

३० १. द्र० पदमञ्जरी ६।१।१९२॥

अप्रथमान्ध्रमहाकविना नन्नयभट्टारकेण स्वकीयमहाभारतानुवाद-ग्रन्थस्यादौ मङ्गलाचरणश्लोकः इत्थं व्यरचि—

"श्रीवाणीगिरिजाश्चिराय दधतो वक्षोमुखाङ्गेषु ये
लोकानां स्थितिमावहन्त्यविहतां स्त्रीपुंसयोगोद्भवाम् ।
ते वेदत्रयमूर्तयस्त्रिपुरुषाः संपूजिता वः सुरैः ५
भूयासुः पुरुषोत्तमाम्बुजभवश्रीकन्धराः श्रेयसे ॥

अत्र प्राण्यङ्गानां समाहारे कर्तव्ये "वक्षोमुखाङ्गेषु" इति इतरेतरयोगः कृतः[1] । स कविस्तु अष्टभाषावागनुशासनविरुदाङ्कितः प्रामाणिकाग्रगण्यः । एष श्लोकः कृत्यादौ वर्तते । अत एष प्रयोगः प्रामादिक इत्यनुमातुं न शक्यते । एतत्प्रयोगसाधने कथं प्रवर्तनीयम् ? १०

विनीतः
वेंङ्कटाचार्यः

(३९)

श्री पं० चन्द्रकान्त बाली का पत्र

५५१, गली बेलसाहब, काश्मीरी गेट दिल्ली[2]। १५
(वर्तमान : सिरसा, जिला हिसार)
२६-जून-१९६३

माननीय विद्वद्वर्य्य !

प्रणाम । आपका कृपा-भार से भरित पत्र मिला । आपने इस पत्र से मुझे कृतज्ञ बनाया है । मैं प्रतिष्ठान का सदस्य तो बनना २० चाहूंगा, पर पहले पुस्तकें खरीद लूं बाद में सदस्यता की बारी आएगी । मैं व्या० शा० इतिहास नामक पुस्तक लगभग सारी पढ़ गया हूं । इस विषय [में] मेरे कुछ सुझाव हैं । यथा—

१—इतिहास के तृतीय भाग में प्रथम भाग के पृष्ठ ५८४ के

---

१. नात्र प्राणिसामान्यभूतानां वक्षोमुखाङ्गा विवक्षिताः, अपितु वाणी- २५ रूपाया गिरिजाया विशिष्टान्यङ्गान्यभिप्रेतानि । एकवचनत्वं तु सामान्ये भवति ।

२. इस समय आप का पता है—'एन/डी-२३, प्रीतमपुरा, विशाख इन्क्लेव, दिल्ली-३४ ।'

अनुसार) आप स्वनिर्धारित आठ विषय दे रहे हैं। मेरी प्रार्थना मान नौवां अध्याय और सन्निविष्ट करलें। उसका शीर्षक होगा "**वैयाकरण पारिभाषिक शब्दकोश**"। आपकी रचना में बहुतेरे शब्द ऐसे आए हैं, जिनका व्याकरण क्षेत्र में अर्थ और है, और उससे अन्यत्र
५ अर्थ कुछ और है। इस शब्दकोश से पुस्तक का गौरव बढ़ जाएगा।

२—कालनिर्णय पर आप पुनः विचार करें। श्री भगवद्दत्त जी इस प्रसंग में पूर्णतया भ्रान्तिग्रस्त हैं। नये अनुसन्धान में आपके समक्ष कुछ कठिनाइयां अवश्य आएंगी। इस विषय में मैं आपकी पुनीत सेवा में उपस्थित रहूंगा। यथा—

१० (क) आपने शिवस्वामी का समय(१ भाग: पृष्ठ ५५२)[1] संवत् ६१४–६४० माना है। इसका आधार आपने बताया है—राजतरंगिणी का एक श्लोक। आपको विदित हो राजतरंगिणी का इतिहास शक संवत् १०७० से १६७१ तक है।[2] 'शक संवत्' ६१६ ईसा पूर्व से गण्य होगा। तदनुसार प्रामाणिक इतिहास ४५४ ईसवी से १०५५
१५ ईसवी तक समाप्त है। अब आप बताइए इसमें अवन्तिवर्मा का काल क्या होगा ?

(ख) वामन-समय कूतते हुए आपने पुनः भूल की (१ भाग: पृष्ठ ५४२)[1]। वलभी भंग का निश्चित समय ईसवी सन् ७८७ है।[2] (वही पृ० ५४४ पंक्ति ८–६) श्री जिन विजय जो ने जो अर्थ किया
२० है: संव० ५७३, वह ठीक है। कल्हण प्रतिपादित मातृगुप्त का प्रेरक विक्रमादित्य हर्ष का समय यही है। यथा—

(१) हर्ष विक्रम संवत् ५७३ } ईसवी सन् ७८७
(२) विक्रमसंवत् ३७५ }

मातृगुप्त का समय कल्हण के अनुसार ईसवी सन् २१४ है। दोनों में १६८ वर्ष का व्यवधान है।

२५ (ग) वररुचि का समय भी आपने अशुद्ध लिखा है। (२ भाग: पृष्ठ २२६) आप इसे संवत् प्रवर्तक विक्रम का समकालिक (५८ ई० पू० मानते हैं, जबकि उसका समय संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य

---

१. सं०२, वि०सं०२०२०। २. यह काल मुझे मान्य नहीं है। यु०मी०

६६ ईसवी के बराबर है। कालिदास भी इसी का सभारत्न है। अमरसिंह भी तो........

इस प्रकार संवत् विषयक कुछ और बातें भी हैं। यह विषय बड़ा लम्बा है। एक पत्र में बात समाप्त न होगी। इस प्रसंग में मेरी दो पुस्तकें छपने वाली हैं—१ भारतीय संवत्, २ पुराणभारतम्। दर्शन होने पर मैं इसका विस्तृत परिचय दूंगा। किमधिकम्। ५

बस जाने में जरा विलंब है; समय निकाल कर पत्र लिखा है। यात्रा में प्राय: शीघ्रतावश पत्र ऐसे ही लिखे जाते हैं। त्रुटियां आप क्षमा करेंगे।

विनीत १०
चन्द्रकान्त बाली
सिरसा

पत्रोत्तर दिल्ली में

(४०)

Delhi-6 १५
11-7-63

मान्यवर! गुणिगणाग्रगण्य!

सादर चरणवन्दना। मैं सिरसा से आज आया हूं। आप का ३ जुलाई का पत्र पाकर धन्य हो गया हूं। आपने मेरी नम्र प्रार्थना को स्वीकार कर लिया है—मेरे लिए इससे बढ़कर गौरव की २० बात और क्या होगी।

इतिहास में आगत कतिपय व्यक्तियों की कालगणना पर आप पुन: विचार करेंगे और मुझे थोड़ी सेवा का सुअवसर प्रदान करेंगे—पढ़कर प्रसन्नता हुई। मैं तन मन से आपकी सेवा करूंगा।

आपके शोध ग्रन्थ से मेरी एक स्थापना की पुष्टि हो गई है। मैं २५ निश्चय किए हुए था कि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर विक्रमादित्य और शूद्रक को भाई-भाई कहा जा सकता है। विक्रमादित्य का समय 66 **A. D** है। इसका संवत् विक्रमशाकाब्द कहलाता है। 'शकनृपकालातीत संवत्सर' के समस्त उल्लेख 66 **A. D** के हैं। शूद्रक का संवत् 78 **A. D** है, जो इस समय राष्ट्र द्वारा अपना लिया गया ३० है। दोनों भाइयों में १२ वर्ष का सूक्ष्म व्यवधान है। आपने भर्तृहरि

को जनश्रुति के आधार विक्रमादित्य का भाई लिखा है और प्रबंध-चिन्तामणि के आधार शूद्रक का भाई। यदि जनश्रुति निर्मूल नहीं है तो विक्रमादित्य और शूद्रक का बन्धुत्व भर्तृहरि के नाते और पक्का हो जाता है। अतः इसका समय 60 से 70 A. D कहना निराधार नहीं है।

विक्रमादित्य—शूद्रक भाई-भाई हैं—

क्योंकि—

१—दोनों के अपने-अपने संवत् हैं।
२—दोनों शक नरेश महेन्द्रादित्य के पुत्र हैं।
३—दोनों भर्तृहरि के भाई हैं।
४—दोनों दो-दो कालिदासों के आश्रयदाता हैं।
५—दोनों स्वयं महा-पण्डित हैं।

इनके भ्रातृत्व का पोषक श्लोक है—

विक्रमादित्यपर्यायः[1] महेन्द्रादित्यसंभवः[2]
असौ विषमशीलोऽपि साहसाङ्क-शकोत्तरः[3] ॥

निश्चयपूर्वक भर्तृहरि का समय 60-70 A. D है।

कृपा भाव बना रहे।

चरणसेवी—चन्द्रकान्त बाली

(४१)

स्व० श्री पं० रामसुरेश त्रिपाठी का पत्र

२४ मैरिस रोड
अलीगढ़

आदरणीय मीमांसक जी,

अष्टाध्यायी के चौथे और पांचवें अध्याय के गणपाठ पर डा० रावर्ट बिरले ने काम किया है। गणरत्नमहोदधि तथा अन्य

१. विक्रमादित्यः=विषमादित्यः (लेखक)
२. कथा ग्रन्थों में विक्रम के पिता का नाम महेन्द्रादित्य लिखा है। (लेखक)
३. साहसाङ्क-शकोत्तरः, तस्य लघुभ्राता विक्रमाङ्कः (लेखक)

उपलब्ध व्याकरणों के गणपाठ के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा पाणिनि के शुद्ध गणपाठ देने का प्रयत्न किया है। भूमिका लगभग २५ पच्चीस पृष्ठ की जर्मन में है, किन्तु गणपाठ रोमन में है। आप आसानी से समझ लेंगे। इस पुस्तक को और आप के द्वारा प्रकाशित गणपाठ को कुछ मास पूर्व मैंने मुंशीराम मनोहरलाल के यहां से साथ ही खरीदी थी। मैंने डा० कपिलदेव को लिख दिया है— ५

Der Ganatratha Zu Den Adhyaya iv and v Der Grammatics Paninis.

दूसरी पुस्तक The Character of the Indc-European mood है। इसमें ग्रीक और संस्कृत क्रियारूपों पर विचार है। १०

भवदीय
रामसुरेश त्रिपाठी
१-१०-६३

(४२)

श्री पं० कुन्दनलाल जैन का पत्र १५

कुन्दनलाल जैन[1] ७।३४ दरयागंज दिल्ली
एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी) एल. टी. ४ नवम्बर ६३
साहित्य शास्त्री

माननीय मीमांसकजी !

सविनय अभिवन्दे २०

मैं दिल्ली के हस्तलिखित ग्रन्थागारों का सर्वेक्षण कर रहा हूं। लगभग १० हजार पांडुलिपियों में से ऐतिहासिक महत्व की सामग्री संकलित कर चुका हूं। अभी हाल में पुंजराज कृत 'सारस्वत व्या० की टीका' सं० १६४५ की लिखी हुई मिली है, जिसमें २३ श्लोकों की पुंजराज की प्रशस्ति है जिसमें 'पुंजराजो नरेन्द्रः' प्रयुक्त है। २५ इससे प्रतीत होता है कि पुंजराज केवल वैयाकरण ही न थे अपितु

---

१. इस पत्र का उपयोग यथास्थान नहीं हो सका। इसका खेद है। अगले संस्करण में उपयोग किया जायेगा।

वे राजा नहीं तो राजकीय किसी प्रतिष्ठित पद पर अवश्य ही होंगे, क्योंकि इसी आशय का उल्लेख सं० १५५२ में भ० श्रुतकीर्ति द्वारा रचित **'परमेष्ठी प्रकाशसार'** तथा **'योगसार'** की अपभ्रंश प्रशस्ति में मिलता है। आप ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र के इतिहास' ५ में पुंजराज का परिचय केवल ५-७ पंक्तियों में ही दिया है, जब कि उपर्युक्त प्रशस्ति में उनका विस्तृत परिचय उपलब्ध होता है तथा उनके पूर्वजों का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त आपने सारस्वत की केवल १८ टीकाओं का उल्लेख किया है जब कि जैन विद्वानों ने ही अकेले २०-२५ टीकाएं की है। शेष जैनेत्तर विद्वानों की तो पृथक् १० ही है अतः सारस्वत की टीकाओं की संख्या तो ३० के लगभग होना चाहिए। कृपया इस पत्र का आशय गलत न समझें। मेरी दृष्टि तो केवल उपलब्ध सामग्री से आपको अवगत कराना ही है। इस टीका की एक प्रति जयपुर के लूणकरणजी के मंदिर स्थित भंडार में भी है। डा० कस्तूरचद्र जी कासलीवाले से प्राप्त हो सकती है। शेष शुभ १५ उत्तर देवें और कभी दिल्ली पधारें तो दर्शन देकर अनुगृहीत करें। आपके ग्रंथ की प्रशंसा किन शब्दों में करुं सो कुछ लिख नहीं सकता, पर ऐसे ग्रंथ निश्चय ही भारतीय संस्कृति एवं भाषा की उन्नति के प्रतीक हैं।

आपके पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में।

२० आपका
कुन्दनलाल जैन
७।३४ दरयागंज दिल्ली

(४३)

श्री पं० रामशंकर भट्टाचार्य के पत्र

२० -१-६४
२५

पूज्य, गुरुजी—

वाक्यपदीय का एक नाम वाक्यप्रदोप था। यह बुलहर ने मनु [स्मृति के] मेधातिथिभाष्य की भूमिका में लिखा है—वाक्यपदीय

which Sometimes is Called वाक्यप्रदीप।[1] आपके ग्रन्थ में इस नाम की कोई चर्चा नहीं है, कृपया देख लें (Sacred Books of the East Vol. 25 Page 123, Footnote I)

मैं संस्कृत विश्वविद्यालय में नियुक्त हो गया हूं।

प्रणव
रामशंकर भट्टाचार्य
Research Assistant
Research Institute
Sanskrit university.

[दूसरे पत्र का एकांश]

देवीपुराण देवीभागवत से पृथक् है। इसमें 'करन्ति' प्रयोग है—

शून्यध्वजं सदा भूता नागगन्धर्वराक्षसाः।
विद्रवन्ति महात्मानो नानाबाधां करन्ति च ॥(३५।३७][2]

'ज्वलन्त' प्रयोग—

मायाविनोमत्तगजेन्द्ररसा
देव्या समासाद्य [3]ज्वलन्तकोपाः। (१४।२७)

व्या० शा० इति० भाग १ (द्वि० सं०) को यदि मोतीझील भेज दें तो मैं लेता......

[जिस पत्र में उपर्युक्त पाठ था, उसका इतना ही अंश फाड़कर मैंने सुरक्षित रखा था। अतः तारीख का निर्देश उपलब्ध नहीं है। गायघाट बनारस के पोस्ट आफिस की मोहर में 28-9-6 इतना ही पढा जाता है। द्वितीय संस्करण वैशाख सं० २०२०=अप्रेल मई १९६३ में छपा था। अतः यह पत्र २८-९-६३ या ६४ का हो सकता है।]

---

१. इसका निर्देश 'सं०व्या०शा० का इ०' के द्वितीय भाग के द्वितीय संस्करण (सं० २०३०) के पृष्ठ ४०१ में कर दिया था (प्रस्तुत संस्करण में पृष्ठ ४३८ पर देखें)।

२. इसका निर्देश 'सं० व्या० शा० का इ०' के प्रथम भाग के प्रस्तुत चौथे संस्करण (सं० २०४१) के पृष्ठ ५४, टि० ३ में कर दिया है।

३. इस प्रयोग का हमने उपयोग नहीं किया।

(४४)

श्री पं० विरजानन्द दैवकरणि का पत्र

ओ३म्

कन्या गुरुकुल
नरेला, दिल्ली-४०
२६-६-१९७५ ई०

मान्यवर श्री मीमांसक जी सादर अभिवादन।

आशा है आपका स्वास्थ्य ईशानुग्रह से ठीक होगा। आप द्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायी सटिप्पण को देख रहा था कि एक बात स्मरण हो आई। २८ दिसम्बर १९७४ को मैंने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हस्तलेख पुस्तक संग्रह के में एक पुस्तक देखा था। उसका नाम है—**'गणपाठविवृत्तिः'**। इसे पाणिनि मुनि रचित नया ग्रन्थ (गणपाठ के अतिरिक्त) मानकर उन्होंने दस सहस्र रुपये में खरीदा है, सम्भवतः १९६८ ई० में। उस पर कोई व्यक्ति शोधकार्य भी कर रहा है। वह ग्रन्थ शारदा लिपि में लिखा है। आद्यन्त में मैंने स्वयं पढ़ा ग्रन्थ का नाम तो ठीक है, किन्तु पाणिनि विरचित ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया। कहीं बीच में हो तो कह नहीं सकता। किन्तु हस्तलेख में आद्यन्त में ही नाम मिलते हैं बीच में नहीं। पं० स्थाणुदत्त का कथन है कि यह ग्रन्थ पाणिनि रचित है।

आपकी अन्वेषणरुचि को देखते हुए मैं आपसे निवेदन कर रहा कि इसकी वस्तुस्थिति की जानकारी कीजिये। कागज अधिक पुराना नहीं है। मूर्खतावश अधिकारियों तथा प्रबन्धकों ने मुखपृष्ठ पर नीली स्याही से ग्रन्थ का नाम मोटे अक्षरों में लिख दिया है। जिससे स्याही फैलकर पृष्ठभाग के हस्तलेख को भी खराब कर गई है। मैंने उन्हें ऐसा करने से निषिद्ध कर दिया है।

आशा है आप मेरी प्रार्थना पर ध्यान देंगे। अष्टाध्यायी का एक हस्तलेख हमारी दृष्टि में भी है, कभी मिलने पर सूचित करेंगे।

भवदीय
विरजानन्द दैवकरणि

[इस पत्र का निर्देश मैंने 'सं० व्या० शा० इ०' के द्वितीय भाग के सं० २०४१ के प्रस्तुत संस्करण में पृष्ठ १६६ कर दिया है]

(४९)

श्री पं० कपिलदेव शास्त्री का पत्र

कुरुक्षेत्र
८.७.७५

पूज्य पं० जी, ५

सविनय प्रणाम।

कल कृपापत्र मिला। उत्तर में निवेदन है कि गणपाठ विवृति नामक ग्रन्थ यहां शारदा लिपि में है। डा० रामसुरेश त्रिपाठी (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़) ने देवनागरी तथा शारदा दोनों लिपियों में इस ग्रन्थ के हस्तलेख प्राप्त कर लिये हैं। वे १० इसका आलोचनात्मक संस्करण निकाल रहे हैं—ऐसी सूचना उन्होंने मुझे दी थी। यहां पं० स्थाणुदत्त जी के सुपुत्र श्री पिनाकपाणि शर्मा ने Ph. D के लिये इस गणपाठ विवृति तथा गणरत्नमहोदधि के तुलनात्मक अध्ययन का आरम्भ मेरे निर्देशन में किया है। यद्यपि यह कार्य डा० त्रिपाठी ने उन्हें पं० स्थाणुदत्त जी के आग्रह पर दिया १५ था। मेरी विशेष सहमति नहीं थी। गणपाठविवृति प्रकाशवर्ण का छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें प्रायः पाणिनीय गणपाठ का छन्दोबद्ध संग्रह मात्र है। 'विवृति' की अन्वर्थकता के लिये एक दो शब्द ही व्याख्या के रूप में कहीं कहीं मिलते हैं। शेष कृपा।

आपका विनीत—कपिलदेव २०

[इस पत्र का निर्देश मैंने 'सं० व्या० शा० इ०' के द्वितीय भाग के प्रस्तुत सं० २०४१ के संस्करण में पृष्ठ १६९ पर कर दिया है]

(४६)

श्री कमलेशकुमार द्विवेदी का पत्र

वाराणसी[1]

१६।७।७६

५ पूज्य गुरुजी

सादर प्रणाम

आपका कृपा पत्र दिनाङ्क १३।७।७६ को प्राप्त हुआ। इसके लिये हमेशा कृतज्ञ रहूंगा। यह वृत्तिप्रदीप अभी तक दो ही जगहों में मुझे देखने को मिला है। एक प्रतिलिपि सरस्वती भवन, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी में है। तथा दूसरी प्रति गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट
१० लायब्रेरी मद्रास-५ में उपलब्ध है। संस्कृत विश्वविद्यालय की प्रति गवर्नमेण्ट कालेज त्रिपुनीथुरा अर्णाकुलम् से मंगवाई गई है, ऐसा यहां के रजिस्टर में उल्लिखित है लेकिन मुझे त्रिपुनीथुरा से कोई सही उत्तर नहीं प्राप्त हुआ कि यह ग्रन्थ मूल हस्तलेख रूप में वहां प्राप्त है। होशियारपुर में मलियालम लिपि में द्वितीयाध्याय पर्यन्त यह
१५ ग्रन्थ ताडपत्र में सुरक्षित है। महल लायब्रेरी तञ्जौर के ग्रन्थालय के पत्र से ज्ञात हुआ कि यह ग्रन्थ वहां नहीं है। यदि भविष्य में कुछ और पता चलेगा तो मैं आप को सूचना दूंगा। यदि आप को इस विषय पर कुछ और जानकारी प्राप्त हो तो सूचित करने का कष्ट
२० करें।

भवदीय

कमलेशकुमार द्विवेदी, अनुसन्धाता
शिवकुमार शास्त्री छात्रावास क० नं० ६५
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

---

१. इस पत्र का कुछ भाग 'सं० व्या० शा० इ०' के प्रस्तुत संस्करण (सं०
२५ २०४१) के भाग १, पृष्ठ ५८० पर छापा जा चुका है।

(४७)

श्री म० देवे गौड एम० ए० का पत्र

M. Deve Gowda; M. A.,
Hindi Dept.,
Govt. College, Hassan ५
Pin 573201, Karnatak.
29.8.76

पूज्य युधिष्ठिर जी मीमांसक,

श्रद्धा युक्त प्रणाम।

आपका संस्कृत साहित्य[1] का इतिहास--प्रथम भाग पढ़ रहा हूं। १०
ग्रंथ बहुत ही प्रौढ़ है। आपका कार्य स्तुत्य है। मेरे आनंद की तो सीमा नहीं।

आपने उसमें [पृ० ५९६ III संस्करण] में 'भट्ट अकलंक' (सं० ७००—८००) के किसी व्याकरण के प्रवचन के बारे में लिखा है। फिर "शब्दानुशासन की मंजरीमकरंद टीका के प्रारंभिक भाग का १५ एक हस्तलेख इंडिया आफीस, लंदन के पुस्तकालय में सुरक्षित है।" इसके बाद "इति ─······प्रथमः पादः।" आदि है। इसके बाद काल का निर्णय करते, बौद्धों के साथ वाद करनेवाले भट्ट अकलंक (वि० सं० ७००) के बारे में लिखा है। मुझे आपसे यही निवेदन करना है क 'मंजरीमकरंद' टीका लिखनेवाला 'भट्टाकलंकदेव' वि० सं० १७ २० वीं सदी का है। इनके गुरु का नाम अकलंकदेव है।

भट्टाकलंकदेव ने 'कर्णाटकशब्दानुशासनम्' नामक कन्नड़ भाषा का व्याकरण संस्कृत सूत्रों में लिखा है। इसमें चार पाद तथा ५९२ सूत्र हैं। एक सूत्र देखिए—"**तुदि मोदलः पूर्वस्यादि स्वरात् त्तश्च**" (३८९)। इसमें 'तुदि', 'मोदल्' कन्नड़ शब्द हैं 'त्त' द्वित्वादेश है। २५ इस व्याकरण पर लेखक ने ही 'भाषामंजरी वृत्ति' लिखी है। ऊपर के सूत्र पर वृत्तियों है—"**आधिक्ये द्विः प्रयुज्यमानस्य 'तुदि' शब्दस्य**

---

1. यहां 'संस्कृत व्याकरण' शब्द होना चाहिये।

'मोदल्' शब्दस्य च पूर्वस्य आदिस्वरादुत्तरावयवस्य 'त्त' इति द्वि-तकारादेशो भवति। प्रयोगः—तुत्त-तुदि, मोत्त-मोदल्। ('क्रम से अर्थ है—अंत्यंत अंत, पहले-पहल) 'तुदि मोदल' इति किं? 'ओळगोळगु'। पूर्वस्येति उत्तरस्य मा भूत्। आदिस्वरादिति अंत्यस्वरान्माभूत्।"

५ इसी व्याकरण पर लेखक ने 'मंजरीमकरंद' नामक विस्तृत टीका भी लिखी है। उसे महाभाष्य के समान मानते हैं। मंजरी-मकरंद छपा है। मेरे पास एक कापि है। भाषा संस्कृत पर लिपि कन्नड़ है। २६८+८२+१६ कुल पृष्ठ हैं। आकार $7\frac{1}{2}'' \times 10''$ है। पूरा टेक्स्ट तो है। पर कहां छापा कब छपा यह ग्रन्थ, इसका पता नहीं। पन्ने
१० टूटने की हालत में हैं। हाल ही में नया रक्षाकवच लगा है।

सो, वि० सं० ७०० वाला भट्ट अकलंक सचमुच ही अन्य व्यक्ति होगा। पत्र लिखने की कृपा करें।

आपका विनीत
मा० देवे गौ०

१५ [इस पत्र के अनुसार प्रस्तुत चतुर्थ संस्करण (सं० २०४१) में संशोधन कर दिया है। अर्थात्—'भट्ट अकलङ्क' का वर्णन पूर्वमुद्रित स्थान से हटा दिया है। पत्र-लेखक के प्रति आभार व्यक्त करने के लिये प्रथमभाग के अन्त में पृष्ठ ७२२ पर उल्लेख कर दिया है।

(४८)

२० ## श्री दत्तात्रेय काशीनाथ तारे का पत्र

॥ श्रीः ॥[1] नागपुर
दि० १७-६-१६७८

आदरणीय श्री० युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़

महोदय विद्वद्वर,

२५ सादर वन्दे।

मैंने गतमास दिल्ली से आपके 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इति-

१. इस पत्र का निर्देश 'सं० व्या० शा० इ०' के प्रस्तुत संस्करण (सं० २०४१) के प्रथम भाग के पृष्ठ ५४२ पर किया है।

हास' नाम ग्रंथ के तीन भाग खरीदे। मेरा काम लिखने के पूर्व मेरा परिचय देता हूं। मेरा पूर्ण नाम दत्तात्रेय काशीनाथ तारे है। मैं नागपुर में अध्यापक हूं और मराठी भाषा पढ़ाता हूं। परन्तु अधुना मैं संस्कृत और विशेषत: संस्कृत व्याकरण और न्याय का अध्ययन कर रहा हूं। हिन्दी अच्छी नहीं। मैं कौमुदी और सिद्धान्त मुक्तावली का अध्ययन कर रहा हूं। मेरा पूरा पता आखरी दिया है। आपका पता प्रकाशक के द्वारा लिखा है और आपको मेरा पत्र मिलेगा ऐसी आशा है।

मैंने मराठी में एक प्रो० म० दा० साठे विरचित संस्कृत व्याकरण का इतिहास पढा। उस में ऐसा लिखा है की नागेशभट्ट के शिष्य और वैद्यनाथ पायगुंडे अहोबल इनके सहपाठी श्री रामचन्द्रभट्ट तारे थे। उन्होंने 'पाणिनिसूत्रवृत्ति' लिखी है। श्रो अप्रसिद्ध है। श्रीराम-चन्द्रभट्ट काशी में रहते थे और आज भी उनका भग्न गृह वहां है। मेरी ऐसी इच्छा है की वह वृत्ति संपादित करके प्रसिद्ध करना। मैंने वह हस्तलिखित मिलने के लिये, भांडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मंडल पुणे और काशी को भी लिखा परन्तु पुणे में वह नही है। काशी से पत्रोत्तर नहीं आया। पुणे के श्री अभ्यंकर के 'Dictionary of Sans-kirt Grammer' में उसका उल्लेख है। मेरी आपको ऐसी नम्र प्रार्थना है की वह हस्तलिखित कहां मिलेगा और श्री रामचन्द्रभट्ट तारे के बारे में और कहां और वृत्त मिल सकेगा इस बारे में आप कृपया मार्गदर्शन करें। यहां कोई बताते नहीं। मेरी निराशा मत करना ऐसी विनंती।

मैं आप से विस्तृत पत्रोत्तर की अपेक्षा में हूं। आपके ग्रंथ सदृश ग्रंथ मराठी या इंगलिश में मैंने नही देखा। उस ग्रंथ पर से आप समर्थ हैं ऐसा मेरा विश्वास है।

क्षमा करना। धन्यवाद।

आपका नम्र विद्यार्थी
द० का० तारे

पता:—

दत्तात्रेय काशीनाथ तारे
दिवाळे बिल्डिंग, रायपथ, रामदासपेठ
पो० नागपुर (महाराष्ट्र)

(४६)

श्री पं० दयानन्द भार्गव का पत्र

[नवभारत टाइम्स (देहली) के १३ अक्टूबर ७३ के अंक में 'अष्टाध्यायी पर दुर्लभ टीका मिली' शीर्षक से एक सूचना छपी थी। वह इस ५ प्रकार थी—

'जम्मू १२ अक्टूबर (नभाटा) प्राचीन भारत के महान् व्याकरणाचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी पर यहां एक दुर्लभ टीका प्राप्त हुई है। रघुनाथ संस्कृत पुस्तकालय में इसके अतिरिक्त संस्कृत की ६००० महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियां भी हैं।

१० अष्टाध्यायी की टीका १६०० पृष्ठों की है, जिसमें पाणिनि की कृति के आठों भागों की व्याख्या की गयी है, यह १८ वीं[1] शताब्दी के आरम्भ में अल्मोड़ा (उत्तरप्रदेश) के पंडित विश्वेश्वर ने लिखी थी।

पंडित विश्वेश्वर ने हर्ष के नैषधीय चरित और भानुदत्त की 'रसमञ्जरी' पर भी टीकाएं लिखीं, ये टीकाएं १६३८ (सन् १७१६)[2] में लिखी १५ गयीं थी।"

इस सूचना के प्रकाशित होने के लगभग कई वर्ष पश्चात् मुझे किसी प्रकार इस ग्रन्थ के सम्पादन करने वाले श्री पं० दयानन्द भार्गव (रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ जम्मू के प्राचार्य) का पता ज्ञात हुआ। उन्हें मैंने १५।६।७६ को इस ग्रन्थ की जानकारी के लिये पत्र लिखा। उस पत्र का जो २० उत्तर प्राप्त हुआ वह नीचे छाप रहा हूं]

---

१. अगली टिप्पणी देखें।

२. यहां सन् १७१६ का निर्देश अशुद्ध है। लेखक ने १६३८ को शक संवत् मानकर सन् १७१६ का निर्देश किया है। वस्तुतः १६३८ विक्रम संवत् है। भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजिदीक्षित की रसमञ्जरी पर टीका लिखने तथा भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित विरचित प्रौढ़ मनोरमा का विश्वेश्वर २५ सूरि विरचित व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि में उल्लेख न होने से विश्वेश्वर सूरि का काल सं० १६००-१६५० के मध्य ही निश्चित होता है। द्र० सं० व्या० शा० का इ० भाग १ पृष्ठ ५४१।

आचार्य एवं अध्यक्ष[1]
संस्कृत विभाग
दयानन्द भार्गव जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर-342001

दिनाङ्क १६.११.७६ ५

श्रद्धेय श्री मीमांसक जी

सादर नमस्कार

आपके १५.६.७६ के पत्र का उत्तर इतने विलम्ब से देने के लिये क्षमाप्रार्थी हूं किन्तु इस विलम्ब का कारण सम्भवतः मेरे ऊपर १० मुद्रित पते से स्पष्ट हो गया होगा। आपका पत्र जम्मू से स्थान स्थानान्तरों में घूमता हुआ मुझे मिला ही विलम्ब से। मैं सन् ७३ के बाद जम्मू से प्रयाग, प्रयाग से दिल्ली तथा दिल्ली से अब यहां जोधपुर पहुंच गया हूं।

आचार्य विश्वेश्वर सूरि कृत व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि के तीन १५ अध्याय बनारस से छपे थे, वे दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं। शेष पांच अध्याय उस समय उपलब्ध नहीं [हो] सकने के कारण नहीं छपे। सन् ७३ में वे शेष पांच अध्याय भी मुझे जम्मू में रघुनाथ मन्दिर के पुस्तकालय में मिल गये। धर्मार्थ ट्रस्ट के ट्रस्टी डा० कर्णसिंह की अनुमति-पूर्वक श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत २० विद्यापीठ, जम्मू में प्राचार्य पद पर रहते हुए मैंने उन पांच अध्यायों की प्रतिलिपि करली जो मेरे पास है। पाण्डुलिपि अशुद्धियों से भरी हुई है अतः उसका संशोधन कोई सरल कार्य नहीं क्योंकि उसकी कोई दूसरी पाण्डुलिपि उपलब्ध है नहीं। ऐसी दशा में अभी मैं चतुर्थ अध्याय का ही संशोधन कर पाया हूं। ग्रन्थ पूर्ण है किन्तु उसके अनेक २५ अंश दीमक खा गयी है, उन अंशों की पूर्त्ति अपनी बुद्धि से ही सम्भावित पाठ दे कर करनी है। अभी तक कोई भाग मैंने नहीं छपवाया है। मैं प्रारम्भ में ४-८ अध्याय ही प्रकाशित करवाने की

१. इस पत्र का निर्देश 'सं० व्या० शा० इ०' के प्रस्तुत संस्करण (सं० २०४०) प्र० भाग के पृ० ५४० पर कर दिया है। ३०

बात सोचता हूं क्योंकि यह अंश सर्वथा अप्रकाशित है। १-३ अध्याय बाद में ही लूंगा। कार्य में समय तथा श्रम दोनों अपेक्षित हैं। किन्तु व्याकरण सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का अद्वितीय स्थान है–इसमें सन्देह नहीं। इधर स्वास्थ्य में गड़बड़ी के कारण भी मेरे कार्य में कुछ गतिरोध हुआ है फिर भी आशा करता हूं कि यह दीर्घ कार्य पूरा कर पाऊंगा।

योग्य सेवा से सूचित करें।

आपका कृपाकाङ्क्षी
दयानन्द भार्गव

(५०)

श्री विजयपाल शास्त्री का पत्र

ओ३म्

सेवायाम् — १८-६-८४

पूजनीय गुरु जी।

सादर नमस्ते

सविनयं निवेद्यते यत्—श्री श्रीशचन्द्र चक्रवर्ति भट्टाचार्येण संस्कृतायां (सम्पादितायां) भाषावृत्तौ ओत् (१.१.१५) सूत्रस्य पादटिप्पण्यां जाम्बवती विजयस्येति कृत्वा पद्यमेकं प्रदर्शितम्—

अहो अहं नमो मह्यं यददधत्य सुमध्यया।
उल्लास्य नयने दीर्घे साकांक्षमहमोक्षितः॥[1]

इति जाम्बवतीविजयकाव्ये जाम्बवतीदर्शनोत्तरं कृष्णस्योक्तिः।

ओत् इत्यस्योदाहरणं भाषावृत्तौ—अहो अहम्-इति दत्तमस्ति। तदुद्दिश्यैव सम्पादकेनेयं टिप्पणी समुट्टङ्किता। भाषावृत्तेरिदं संस्करणं भवतः पुस्तकालयेऽस्ति। तद् भवान् द्रष्टुमर्हति। इदं पद्यं भवत इतिहासे तृतीयभागे पाणिनेः काव्य सङ्कलने निविष्टं नास्ति। परीक्ष्याग्रे निवेशयितुं शक्यते।

---

१. यह पद्य प्रस्तुत संस्करण (सं० २०४१) के तृतीय भाग के पृष्ठ ४१ पर उद्धृत कर दिया है। टिप्पणी में पं० विजयपाल शास्त्री के इस पत्र का संकेत कर दिया है।

एकमपरं नवीनं व्याकरणम्—"**श्रीभिक्षुशब्दानुशासनम्** चौथमल्लमुनि-प्रणीतम् (सन् १९८२) मध्ये प्रकाशितं प्रथम-भागात्मकं, सम्भवतः भवतो दृष्टिगतं स्याद् । अत्र विश्वविद्यालये मया दृष्टम् । प्रथम-भागे अष्टावध्यायाः सन्ति । द्वितीय भागे धातुपाठादिखिलस्य व्याख्यानं प्रकाशयिष्यते इति अस्य भूमिकायां सूचितम् । ५

यदि भवतः सकाशमिदं न स्यात् । द्रष्टुमिच्छा न भवेच्चेदहं दिल्ली वि० वि० पुस्तकालयात् स्वनाम्ना कार्ड-द्वारा आदाय भवते दास्यामि । लेखनीयम् ।

तस्य प्रकाशनस्थलम्—

आदर्श साहित्य संघ, चूरु (राज०) इत्यस्ति । मूल्यम्—१००) १०
मद्योग्या काचित् सेवाभवेच्चेदादेष्टव्यम्

विनीतो विनेयः
विजयपालः शास्त्री शोधछात्र
आर्यसमाज शक्तिनगर
दिल्ली 7 १५

बारहवां परिशिष्ट

सं० व्या० शा० का इतिहास

(तीनों भागों) में उद्धृत

व्यक्ति-देश-नगर आदि नामों की सूची

[इस सूची में I से प्रथम भाग, II से द्वितीय भाग और III से तृतीय भाग का संकेत किया है।]

---

१. 'आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस' शब्द भी देखें।

1. शेषवंश में इस नाम के कई व्यक्ति हैं। द्र० पृष्ठ ४३६, वंशचित्र।
2. द्र०—पृष्ठ ४३६ वंशचित्र में आद्यनाम।

---

१. पाल्यकीर्त्ति आचार्य के आश्रयदाता महाराजा के ही ये दोनों नाम हैं।

२. हमें ये चारों नाम एक ही आचार्य के प्रतीत होते हैं। अतः सब का निर्देश यहीं किया है।

1. मूल पाठ में 'घोषः' है ।
2. 'पावते आई० एस' शब्द भी द्रष्टव्य है ।

---

१. यह वरदत्त सुत आनर्तीय ही है ।

१. द्र० 'ओरियण्टल कान्फ्रेंस' तथा 'अ० भा० प्राच्यविद्या परिषद्' शब्द ।

---

१. ग्रन्थ में इसका निर्देश 'इण्डिया आफिस लायब्रेरी लन्दन' तथा 'इण्डिया आफिस पुस्तकालय' नामों से भी हुआ है। हमने ऊपर सभी नामों की पृष्ठ संख्या दे दी है।

२. याज्ञवल्क्य की पत्नी कात्यायनीय का नाम 'इतरा' था और उसका पुत्र ऐतरेय था। यह षड्गुरु शिष्य ने ऐतरेय ब्राह्मण की व्याख्या के आरम्भ में लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण का प्रवचन कृष्णद्वैपायन व्यास और उसके शिष्यों प्रशिष्यों द्वारा किये गये शाखा प्रवचन से पूर्ववर्ती है। अतः यह लेख चिन्त्य है। द्र० भाग १, पृष्ठ २७२ ।

---

१. भाग १,पृष्ठ ६६६ की टि० १ । हमें यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता ।
२. द्र० 'उदयी' शब्द ।
३. द्र० 'उदयन' शब्द ।

---

1. द्र० 'आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस' शब्द तथा 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद्' शब्द। 2. द्र० 'गोयीचन्द्र औत्थासानिक' शब्द।

---

1. इनका शास्त्री, साहित्याचार्य, पीएच०डी० आदि भिन्न-भिन्न विशेषणों से निर्देश है।

१. कलापचन्द्रकार का उक्त तीनों नामों से इस ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है। अतः सब का निर्देश यहीं कर दिया है।

२. कहीं कहीं 'काश्मीर' शब्द का प्रयोग भी हुआ है।

३. तीनों नामों से एक ही व्यक्ति का उल्लेख है।

---

१. वररुचि कात्यायन शब्द भी देखें।

२. पृष्ठ ४७० और ४७५ पर उद्धृत स्वर्गारोहण काव्य का रचयिता कात्यायन वार्त्तिककार कात्यायन ही है।

---

१. यह लिङ्गानुशासनकार वररुचि ही होगा जिसका लिङ्गानुशासन सं० व्या० इ० के भाग २, पृष्ठ २८० पर निर्देश है।

२. शु० यजु: शाखा प्रातिशाख्य और श्रौतगृह्य धर्मसूत्र प्रवक्ता एक ही याज्ञवल्क्य पुत्र कात्यायन है (द्र० भा० १, पृष्ठ ३२३-३२६)।

३. इस पर 'इतरा' शब्द की पृष्ठ १९७ की टि० २ देखें।

४. संस्कृत वाङ्मय में अनेक कालिदास विश्रुत हैं। यहां सामान्य निर्देश किया है।

१. 'गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज बनारस' तथा 'संस्कृत विश्वविद्यालय काशी' शब्द भी देखें; वर्तमान में संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

१. 'शेष कृष्ण' शब्द भी देखें।

---

१. 'व्यास' शब्द भी देखें।
२. 'कृष्णाचार्य' शब्द भी देखें। ३. 'लीला शुकमुनि' शब्द भी देखें।

१. ग्रन्थ में भूल से 'के० माधव शर्मा' छपा है।
२. सामान्य रूप से निर्देश है।

---

१. द्र० 'काशीराज संस्कृत विश्वविद्यालय' शब्द ।

1. 'शेष चक्रपाणि' शब्द भी द्रष्टव्य ।

1. 'चन्द्रगोमी' शब्द भी द्रष्टव्य ।
2. 'चन्द्र, चन्द्राचार्य' शब्द भी द्रष्टव्य ।

---

१. दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। यह रामभद्र दीक्षित का गुरु और श्वसुर था। २. कई स्थानों पर संक्षिप्त रूप से भी उद्धृत है।

१. तीनों एक ही व्यक्ति के नाम। २. 'जटीश्वर' शब्द।

१. ये तीनों एक स्थानों में निर्दिष्ट एक व्यक्ति है, या भिन्न भिन्न। इस में कोई साधक बाधक प्रमाण ज्ञात नहीं है।

२. 'जर्त' शब्द को रमेशचन्द्र मजमूदार ने 'गुप्त' बना दिया। विशेष द्र० 'सं० व्या० इ०' के भाग १, पृष्ठ ६६६, पं० २१ से पृष्ठ ६७०,१२ पं० तक।

---

१. सम्भव है ये दोनों नामों से एक ही व्यक्ति का निर्देश होवे ।

२. आगे उद्धृत तीनों स्थलों पर निर्दिष्ट एक व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न । यह विवेचनीय है ।

---

१. क्या तीनों नाम एक व्यक्ति के हैं, अथवा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के यह विचारणीय है ।

1. 'त्रिवेन्द्रम्' शब्द भी द्रष्टव्य।
2. 'दयानन्द ऐङ्ग्लो वैदिक कालेज 'लाहौर' शब्द भी द्रष्टव्य।
3. द्र० 'दक्खन कालेज (पूना)' शब्द भी द्रष्टव्य।

---

1. 'डेक्कन कालेज (पूना)' शब्द भी द्रष्टव्य ।
2. 'डी० ए० वी० कालेज लाहौर' शब्द भी द्रष्टव्य ।

१. 'पूज्यपाद' और 'देवनन्दी' शब्द भी देखें ।

---

[1]. 'पूज्यपाद' तथा 'दिग्वस्त्र' शब्द भी देखें।

---

१. संस्कृत में 'ळ' अक्षर के किन्ही लौकिक भाषाओं में कहीं 'ड' और कहीं 'ल' का प्रयोग होता है। इसी के आधार पर साहित्य शास्त्री 'डलयोरैकत्वम्' मानते हैं।

२. सम्भवतः ये दोनों स्थानों पर उद्धृत एक व्यक्ति होवे।

---

१. 'बाणेश्वर मिश्र' पाठान्तर I. ५६७,६ ।

२. विशेष शोधनीय—III. पृष्ठ ६२, पं० १५ से पं० २८ तक का मुद्रित पाठ पूर्व पृष्ठ ६१, पं० २४ के आगे होना चाहिये । 'इसी करण में' का संबन्ध सुभाषित रत्नकोश में उद्धृत पाणिनीय श्लोक वाले प्रकरण के साथ है ।

३. यहां मुद्रण प्रमाद से 'धर्मयज्वा' छप गया है । 'धर्मराज यज्वा' होना चाहिये ।

---

१. 'नागोजि भट्ट' शब्द भी द्रष्टव्य ।

२. यह नागोजि, नागोजी दोनों प्रकार ही प्रयुक्त होता है ।

---

१. 'यास्क' शब्द भी द्रष्टव्य।

---

१. दोनों स्थानों पर उद्धृत नृसिंहाश्रम एक व्यक्ति है वा भिन्न-भिन्न, यह अज्ञात है।

---

१. भाग १, पृष्ठ ७६,२८ में भूल से 'पाञ्चालचण्ड' छपा है, उसे शोध लें।

२. विभिन्न स्थानों में दोनों ही नाम प्रयुक्त हुए हैं।

---

१. व्याकरण, परिभाषा, उणादि लिङ्गानुशासन, कोष आदि का (द्र० II. ३४२,१५-२४ ।

२. पाञ्जाल देशज विशेषण, बाभ्रव्य गोत्र गालव नाम .

---

१. 'पौष्करसादि' शब्द भी द्रष्टव्य।

१. 'देवनन्दी' तथा 'दिग्वस्त्र' शब्द भी द्रष्टव्य ।

२. 'पुष्करसादि' शब्द भी द्रष्टव्य ।

---

१. कहीं-कहीं 'भण्डारकर रिसर्च इंस्टीटयूट' के नाम से है। उनका भी निर्देश ऊपर ही कर दिया है।

२. कहीं-कहीं 'भण्डारकर शोध संस्थान' के नाम से उल्लेख है। उनका भी निर्देश ऊपर ही कर दिया है।

१. 'हरि' शब्द भी द्रष्टव्य ।

१. 'भूमभट्ट', 'भूमक भट्ट' शब्द भी द्रष्टव्य।

२. 'भीम भट्ट' शब्द भी द्रष्टव्य।

---

1. 'बोर्टलिंक' शब्द भी द्रष्टव्य।

---

१. राज्यों के विलय से पूर्व । सम्प्रति हिमाचल प्रदेश का एक भाग ।

---

१. इन दोनों के एक व्यक्ति होने की सम्भावना है।

१. यहां 'माध्यन्दिनी' अशुद्ध छपा है, 'माध्यन्दिनि' होना चाहिये।
२. चित्तोड़ से लगभग १० किलोमीटर दूर स्थित 'नगरी' नामक ग्राम।

---

1. सम्प्रति '१, अन्सारीरोड़, दरियागंज, देहली'।

---

१. आगे रामनाथ (कविकल्पद्रुम व्याख्याकार, कातन्त्र धातु व्याख्याता) नाम पर टिप्पणी देखें ।

---

१. शब्द कौस्तुभ की 'प्रभा' टीका का लेखक राघवेन्द्राचार्य भी संभवतः राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगढकर ही हैं।

२. यह निश्चित ही राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगढकर है। द्र० I. ४५१.१२। III. १६१,२४।

३. सम्प्रति 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय'।

---

1. रामचन्द्र अध्वरी-दीक्षित-मखी-यज्वा आदि विशेषण वाले व्यक्ति का ही रामभद्र अध्वरी-दीक्षित-मखी-यज्वा आदि विविध विशेषण युक्त दूसरा नाम है। यह यज्ञराम दीक्षित का पुत्र है।

---

१. कविकल्पद्रुम के व्याख्याकार का नाम रामनाथ और कातन्त्र धातु व्याख्याता का नाम रमानाथ है। लेखकों की असावधानता से उभयत्र नामों का साङ्कर्य देखने में आता है। पूर्व लेखकों के उद्धरणों के निर्देश से हमारे ग्रन्थ में भी यह सांकर्य हो गया है।

२. रामभद्र का ही दूसरा नाम रामचन्द्र है। उसके भी ये ही विशेषण प्रयुक्त हैं। द्र० पूर्व पृष्ठ २६३ की टिप्पणी १।

१. 'याज्ञवल्क्य' शब्द भी द्रष्टव्य ।

१. 'काशी' तथा 'बनारस' शब्द भी देखें ।

---

१. द्र० 'संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी' शब्द, तथा 'सम्पूर्णानन्द सं० वि० वि० वाराणसी' शब्द ।

२ द्र० 'कात्यायन (वार्त्तिककार)' शब्द ।

1. पृष्ठ ५३८, पं० १० पर 'विजयेन्द्रतीर्थ' अशुद्ध छपा है, विजयीन्द्र—तीर्थ होना चाहिये । द्र० III. पृष्ठ १६२, पं० १४,१७ ।

१. सम्भव है यह भाग १, पृष्ठ ७२१ पर निर्दिष्ट भोज व्याकरणकार विनयसागर उपाध्याय ही हो।

१. द्र० 'शेषविष्णु' शब्द ।

२. कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में इसका स्मरण 'सर्वेश्वर' नाम से किया है ।

---

१. 'देवमित्र' पाठा०। द्र० 'देवमित्र' शब्द।
२. 'व्यास' तथा 'कृष्ण द्वैपायन व्यास' शब्द भी देखें।

१. ग्रन्थ में 'ह्विटनी' छपा है, शोध लें।
२. द्र० 'शङ्करराम' शब्द।

---

१. इन निर्दिष्ट स्थानों में फिट्सूत्र-रचयिता शन्तनु को स्वीकार करके 'शन्तनु' का निर्देश किया है। फिट्सूत्र शान्तनव आचार्य प्रोक्त मानने पर शान्तनव होना चाहिये।

२. व्याकरणकार तथा ऋक्तन्त्रकार दोनों का यहां निर्देश है। हमारे मत में दोनों का कर्ता एक ही व्यक्ति है।

---

१. भर्तृहरि वचन में । 'शिक्षाणानेव ये भाष्यकारास्ते गृह्यन्ते' । वृषभदेव टीका ।

---

१. 'शिवरामेन्द्र सरस्वती' शब्द भी देखें।

२. 'शौरवीर माण्डूकेय' शब्द भी द्रष्टव्य।

१. यहां 'शेष' से अभिप्राय सम्भवतः 'शेषकृष्ण' से है।

२. यहां 'अनन्त शेषवंशीय' शब्द भी देखें।

३. 'कृष्ण (शेषवंशीय)' शब्द भी देखें।

४. यहां 'रामेश्वर (=वीरेश्वर=वटेश्वर)' शब्द तथा 'वीरेश्वर' 'वटेश्वर' शब्द भी देखें।

१. 'शूरवीर-सुत' शब्द भी द्रष्टव्य है।

२. यह 'श्रीधर' शब्द का अपपाठ हो सकता है।

१. द्र० 'हर्षवर्धन' शब्द । २. 'श्रुतिधर' शब्द भी द्रष्टव्य ।

३. देवनन्दीय धातुपाठ व्याख्याता श्रुतपाल भी द्रष्टव्य । 'श्रुतधर-कात्यायन' शब्द भी द्रष्टव्य ।

४. भाग २, पृष्ठ ४६७, पं० १७ में 'श्वभूते' के स्थान में 'श्वोभूते' पढ़ें । इसी प्रकार इसी पृष्ठ में सर्वत्र 'श्वभूति' के स्थान में 'श्वोभूति' पढ़ें । 'श्वभूति' का निर्देश न्यासकार ने ७।२।११ की काशिका की व्याख्या में किया है । द्र० भाग १, पृष्ठ ४८१, पं० १८ ।

---

१. 'संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी' शब्द भी द्रष्टव्य।

२. स्वतन्त्र 'सरस्वती भवन' शब्द भी द्रष्टव्य।

३. पुराना 'संस्कृत महाविद्यालय, काशी'।

४. 'संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास' का लेखक।

[1] इसके विषय में भाग २, पृष्ठ ३९१, पं० १—५ देखें ।

1. द्र० शेष कृष्ण-पुत्र वीरेश्वर=रामेश्वर=वटेश्वर शब्द।

---

१. सुबोधिनी' नाम की व्याकरणादि अनेक विषयों के ग्रन्थों की टीकाओं का नाम है। इन दोनों ग्रन्थों में कौन सा 'सुबोधिनी' ग्रन्थ का कर्ता अभिप्रेत है, यह अज्ञात है।

---

१. पृष्ठ ६१, पं० १६ में 'सोमदेव सूरि' के स्थान में 'सोमेश्वर सूरि' अशुद्ध छपा है।

१. 'ये त्वौकारं (=स्फौटायनं) पठन्ति, ते नडादिषु अश्वादिषु वा स्फोटशब्दस्य पाठं मन्यन्ते।' हरदत्त पदमञ्जरी ६।१।१२३।

२. ये एक ही व्यक्ति के नाम हैं। द्र० भाग २, पृष्ठ २३२,३-५;

---

१. 'भास्कर, भास्कर भट्ट, भास्कर अग्निहोत्री' शब्द भी द्रष्टव्य।

१. हमारे विचार में महाराजा हर्षवर्धन ही लिङ्गानुशासनकार है। द्र० भाग २, पृष्ठ २८४, पं० ११ से पृष्ठ २८५ पं० २ तक।

———

१. द्र० 'विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान' शब्द ।

सं० व्या० शा० इ० के तृतीय भाग में

परिवर्धन तथा संशोधन

पृष्ठ ८३ पं० १६ में उद्धृत 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण भानुः' पद्यांश का सकल पाठ इस प्रकार है—

असौ रविः कुमुदर्चर्चिताङ्गो रक्तांशुकेनेव कृतोत्तरीयः ।
सन्ध्यां वधूं गृह्य करेण गाढं जामातृवद् वासगृहं प्रविष्टः ॥

यह श्लोक महामहोपाध्याय पुरुषोत्तम विद्यावागीश प्रणीत 'प्रयोग रत्नमाला व्याकरण', कृद्विन्यास के सूत्र २७, पृष्ठ ३३२ पर उद्धृत है। यह 'असम संस्कृत बोर्ड गोहाटी' से सन् १९७३ में प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक शिवनाथ शास्त्री हैं।

यह विशिष्ट सूचना विजयपाल शास्त्री (शोधछात्र, दिल्ली) ने २१-२-८५ के पत्र में दी है। तदर्थं शुभाशीः।

हमने पृष्ठ ८३ पर जो पद्यांश छापा था वह 'नमि' साधु द्वारा उद्धृत है (द्र० इसी पृष्ठ की टि० ४)। उसने केवल 'गृह्य' पद के लिये उक्त पद्यांश उद्धृत किया है। सम्भव है पद्यांश को अर्थवत्ता के लिये उसने 'गाढं' पद के स्थान पर 'भानुः' का प्रयोग कर दिया हो। प्रयोगरत्नमाला में द्वितीय चरण में 'रक्तांशुकेनैव' पाठ छपा है। यह मुद्रण दोष प्रतीत होता है।

पृष्ठ ८४, पं० २६—'रामनाथ' के स्थान में 'रमानाथ' होना चाहिये।

पृष्ठ ९२, पं० १५-२८ तक का लेख पूर्व पृष्ठ ९१ की २४वीं पङ्क्ति के आगे छपना चाहिये था। असावधानता से अस्थान में छप गया।

पृष्ठ १८३, पं० २—'श्री म० देवे' के स्थान में 'श्री मा० देवे' शोधें।

पृष्ठ १८५, पं० ९—'प्रो० भ० दा० साठे' के स्थान में 'श्री क० दा० साठे' शोधें।

सं० व्या० शा० इति० में पृष्ठ निर्देश पूर्वक उद्धृत

ग्रन्थों का विवरण

अमरटीका सर्वस्व—सम्पादक—गणपति शास्त्री। चार भागों में। त्रिवेन्द्रम का छपा।

अमरटीका (क्षीरस्वामी)—सम्पादक—कृष्ण जी गोविन्द ओके। पूना सन् १९१३।

अल्बेरूनी की भारतयात्रा—सम्पादक—सन्तराम बी. ए.। इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

ईत्सिंग की भारत यात्रा—अनुवादक—सन्तराम बी. ए.। इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद।

उणादिवृत्ति (श्वेतवनवासी)—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

उणादिवृत्ति (कातन्त्र)—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

उणादिवृत्ति (नारायण भट्ट)—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

उणादिवृत्ति (उज्ज्वलदत्त)—प्रकाशक—जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता।

उणादिवृत्ति (हेमचन्द्र)—सं०—जोहन क्रिस्ते। एज्यूकेशन सोसाइटी प्रेस, बायकोला, सन् १८४५।

ऋक्तन्त्र—सम्पादक—डा० सूर्यकान्त। प्रकाशक—मेहरचन्द मुंशी राम, लाहौर।

ऋक्सर्वानुक्रमणी—सम्पादक—डा० विजयपाल। प्रकाशक—सावित्री देवी बागडिया ट्रस्ट, कलकत्ता। सन् १९८५।

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—सम्पादक—पं० भगवद्दत्त। प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर। तृतीय संस्करण, चार भागों में। सन् १९८१-८३।

कातन्त्र—दुर्गसिंह वृत्ति सहित, नागराक्षर मुद्रित, कलकत्ता संस्करण।

कातन्त्रवृत्ति—दुर्गसिंह, नागराक्षर प्रकाशन, कलकत्ता संस्करण।
काव्यमीमांसा (राजशेखर)—गायकवाड संस्कृत सीरिज बड़ोदा। प्रथम संस्करण।
कविकल्पद्रुम—आशुबोध विद्याभूशण सम्पादित। सिद्धेश्वर प्रेस कलकत्ता, सन् १९०४।
काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्—संस्कृत अनुवाद—युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।
काशिका—सं०—बालशास्त्री, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस। संस्करण २, सन् १८९८।
काशिका विवरण पञ्जिका (न्यास)—जिनेन्द्र बुद्धि। वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी राजशाही, बङ्गाल। दो भागों में।
क्रियारत्न समुच्चय—गुणरत्न सूरि। चन्द्रप्रभा यन्त्रालय, काशी।
क्षीरतरङ्गिणी—सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रकाशक-रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर।
गणरत्न महोदधि—सम्पादक—भीमसेन शर्मा। प्रकाशन स्थान—इटावा।
जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह संग्रहीता—जुगलकिशोर, मुख्तार। वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली।
जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी। हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई। प्रथम संस्करण सन् १९४२; द्वितीय संस्करण सन् १९५६।
जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास—मोहनलाल दलीचन्द देसाई। बम्बई, सन् १९३३।
जैनेन्द्र महावृत्ति—(अभयनन्दी)—भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस।
ज्ञापक समुच्चय—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल।
ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास—शंकर बालकृष्ण दीक्षित। द्वितीयावृत्ति सन् १९३१, पूना।
टेक्निकल टर्म्स् आफ संस्कृत ग्रामर—क्षितीशचन्द्र चटर्जी। कलकत्ता।
दी स्ट्रक्चर आफ अष्टाध्यायी—लेखक—आई० एस० पावटे। प्रकाशक—आई० एस० पावटे, हुवली। सन् १९३३ ई०।
दुर्घटवृत्ति—सम्पादक—गणपति शास्त्री। त्रिवेन्द्रम। प्रथम संस्करण, सन् १९२४।

दैवम्—पुरुषकार वृत्तिकोपेतम्—सं० युधिष्ठिर मीमांसक, भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।

धातुप्रदीप—मैत्रेयरक्षित। प्रकाशक—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल।

धातुवृत्ति (सायण)—प्रकाशक—काशी संस्कृत सीरिज, नं० १०३। बनारस, सन् १९३४।

निघण्टुटीका (देवराज यज्वा) सम्पादक—सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता, सन् १८८०।

निरुक्त दुर्गवृत्ति—आनन्दाश्रम, पूना।

निरुक्त (स्कन्द टीका)—सम्पादक—डा० लक्ष्मणस्वरूप। प्रकाशक-पञ्जाब विश्वविद्यालय, लाहौर।

निरुक्त समुच्चय— (वररुचि)—सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर। द्वितीय संस्करण, सं० २०२२।

निरुक्तालोचन—सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता।

न्यायमञ्जरी (जयन्त भट्ट)—दो भागों में। प्रकाशक—मेडिकल हाल यन्त्रालय, बनारस।

न्यास (जिनेन्द्र बुद्धि) द्र०—काशिका विवरण पञ्जिका शब्द।

पदमञ्जरी (हरदत्त)—मेडिकल हाल प्रेस, बनारस। प्रथम भाग, सन् १८९५। द्वितीय भाग, सन् १८९८।

परिभाषाभास्कर (शेषाद्रि)—सम्पा०—कृष्णमाचार्य, श्री कृष्ण विलास यन्त्रालय, तञ्जा नगर। सन् १९१२।

परिभाषावृत्ति (सीरदेव)—ब्रजभूषणदास कम्पनी, काशी। सन् १८८७।

परिभाषावृत्ति (पुरुषोत्तम देव) वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगाल।

परिभाषासंग्रह—सं० काशीनाश अभ्यङ्कर। मुद्रणस्थान—पूना।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह—सिंघी ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, सं० १९९२।

पुरुषकार—(द्र०—दैवम्)

पूना-प्रवचन—(उपदेश-मंजरी) प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरयाणा।

प्रक्रिया कौमुदी—दो भागों में, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।

प्रक्रिया सर्वस्व (उणादिप्रकरण)—द्र०—उणादिवृत्ति, नारायण भट्ट।

प्रक्रिया सर्वस्व (तद्धित प्रकरण)—मद्रास विश्वविद्यालय मद्रास।

प्रबन्ध कोश—(राजशेखर सूरि)—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, सं० १९९१।

प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्गाचार्य)—सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्तिनिकेतन, सं० १९८९।

प्रौढ मनोरमा (भट्टोजि दीक्षित)—दो भागों में। विद्याविलास प्रेस बनारस, सन् १९०७।

बृहत्त्रयी—(गुरुपद हालदार) हालदार पाड़ा रोड़ कालीघाट, कलकत्ता।

बृहद् विमान शास्त्र—सम्पादक—स्वामी ब्रह्ममुनि। प्रकाशक—आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा, देहली।

बौधायन गृह्यशेषसूत्र—द्र०—बौधायन गृह्यसूत्र। मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर, सन् १९२०।

भारतवर्ष का बृहद् इतिहास—पं०—भगवद्दत्त। प्रकाशक—इतिहास प्रकाशक मण्डल, १।२८ पंजाबी बाग, देहली—२६।

भाषावृत्ति (पुरुषोत्तमदेव)—वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बङ्गाल।

भागवृत्ति संकलन—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर।

भास-नाटक-चक्र—प्रकाशक—ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना।

महाभाष्य—(अ० १-२) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

महाभाष्य—(अ० ३-८)—सं०—गुरुप्रसाद शास्त्री, काशी।

माधवीय धातुवृत्ति (द्र०—धातुवृत्ति, सायण)।

मीमांसा भाष्य—(शबर स्वामी) तन्त्र वार्त्तिक टुप् टीका सहित, पूना संस्करण।

यज्ञफलनाटक—सम्पादक—जीवाराम कालिदास वैद्य। रसशाला आश्रम, गोंडल (काठियावाड़)।

रूपावतार—धर्मकीर्ति। दो भागों में मुद्रित। बंगलोर प्रेस, मैसूर रोड, बंगलोर।

लिङ्गानुशासन—(हर्षवर्धन) मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास ।
लौगाक्षि गृह्यभाष्य (देवपाल)—दो भाग। कश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, श्रीनगर, कश्मीर।
वाक्यपदीय—(ब्रह्मकाण्ड) सम्पा०—पं० चारुदेव शास्त्री । रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर ।
वाक्यपदीय—(पुण्यराज टीका)—वाराणसी ।
वाक्यपदीय—(हेलाराजीय टीका)—वाराणसी तथा दक्खन कालेज, पूना ।
वाक्यपदीय (वृषभदेव टीका)—प्रथमकाण्ड । सम्पादक—चारुदेव शास्त्री । प्रकाशक—रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर सं० १९९१ ।
वाजसनेय प्रातिशाख्य—उव्वट तथा अनन्त भाष्य सहित । मद्रास यूनिवर्सिटी, मद्रास ।
वामनीय लिङ्गानुशासन—प्रकाशक—भारतीय प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, अजमेर ।
वेदार्थदीपिका—ऋक्सर्वानुक्रमणी टीका । षड्गुरु शिष्य—सम्पादक—मैक्डानल, आक्सफोर्ड ।
वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा । द्वितीय आवृत्ति, संवत् १९९६ ।
व्याकरण दर्शनेर इतिहास—(गुरुपद हालदार)-हालदार पाड़ा रोड़, कालीघाट, कलकत्ता ।
शब्दशक्तिप्रकाशिका—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस ।
संस्कार रत्नमाला—प्रकाशक—आनन्दाश्रम, पूना ।
संस्कृत कवि चर्चा—बलदेव उपाध्याय । प्रकाशक—मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड संस, बनारस, सन् १९३२ ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास—(कीथ) हिन्दी अनुवाद, डा० मङ्गलदेव शास्त्री । प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, देहली ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार । रामविलास पोद्दार ग्रन्थमाला, नवलगढ़ । न्यू राजस्थान प्रेस, कलकत्ता ।
संस्कृत साहित्य का इतिहास (वाचस्पति गैरौला)—चौखम्बा संस्कृत सीरिज, बनारस ।

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—लेखक—सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज। बनारस (सन् १९३३)।

सांख्य दर्शन का इतिहास—उदयवीर शास्त्री। विरजानन्द शोध संस्थान, गाजियाबाद।

सिस्टम्स् आफ संस्कृत ग्रामर—डा० वेल्वाल्कर, ओरियण्टल बुक एजेंसी, शुक्रवारपेठ पूना, सन् १९१५।

हर्षवर्धन लिङ्गानुशासन—प्रकाशक—मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास।

हिन्दुत्व—(रामदास गौड़)—ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी सं० १९९५।

हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर (कृष्णमाचार्य)।

हैमधातुपारायण—

हैमलिङ्गानुशासन स्वोपज्ञ-विवरण—सम्पादक—आचार्य विजयक्षमा-भद्र सूरि (प्रकाशक—शाह हीरालाल सोमचन्द, मोदी स्ट्रीट, कोट, बम्बई। सं० १९९६।

ह्यूनसांग—वाटर्स का अंग्रेजी अनुवाद।

ह्यूनसांग का भारत भ्रमण—अनु० —ठाकुरप्रसाद शर्मा, इण्डियन प्रेस, प्रयाग।

आत्म-परिचय

जन्म और अध्ययन

मेरा जन्म राजस्थान राज्य के पुष्कर क्षेत्र अन्तर्गत अजमेर (=अजयमेरु) मण्डल के बिरकच्यावास (=विरञ्च्यावास) में बसे हुए भारद्वाज गोत्र, त्रिप्रवर, आचार्य टंक, यजुर्वेदीय माध्यनन्दिन शाखा अध्येता सारस्वत कुल में हुआ है। मेरे दादा का नाम **रघुनाथ आचार्य**, पिता का **गौरीलाल आचार्य** एवं माता का नाम **यमुनाबाई** था। यद्यपि कई पीढ़ियों से निर्वाह का मुख्य साधन कृषि था, परन्तु मेरे पिताजी ने कृषि कर्म छोड़कर अध्यापन कार्य स्वीकार किया था।

हमारे गांव में एक **सूरजमल पटेल** थे। उन्होंने अजमेर में नव-भारत के निर्माता वेदोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती के भाषण सुने थे (मुझे भी बचपन में उनसे स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व के संस्मरण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था)। इनके संसर्ग से पिताजी एवं ग्राम के दो नवयुवक **रामचन्द्र जी लोया और शिवचन्दजी इनाणी** भी आर्यसमाज की ओर आकृष्ट हुए। अध्ययनार्थ पिताजी कुछ वर्ष अजमेर में रहे। वहां आर्यसयाज के संसर्ग में आने से वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के दृढ़ अनुयायी बन गये।

पिताजी का लगभग २३ वर्ष की अवस्था में विवाह हुआ। उन दिनों कन्याओं को पढ़ाने की परिपाटी नहीं थी। पिताजी ने स्वामी दयानन्द के अनुयायी होने से मेरी माता को स्वयं पढ़ा लिखा कर सुशिक्षित किया और उन्हें अपने विचारों के अनुकूल बना लिया। सुसंस्कृत माता-पिता ने निश्चय किया कि **हम अपनी सन्तान को अपने वंश के अनुरूप सच्चा वेदपाठी ब्राह्मण बनायेंगे।**

पिताजी ने अध्ययन के पश्चात् बीकानेर तथा किशनगढ़ राज्य के कई स्थानों पर अध्यापन कार्य किया, परन्तु सन् १६०८ में वे इन्दौर राज्य की सेवा में चले गये। अतः मेरा जन्म इन्दौर राज्य के नीमाड़ जिले के **मुहम्मदपुर** ग्राम में **भाद्र सुदी अष्टमी संवत् १६६६** तदनुसार २२ सितम्बर सन् १६०६ को हुआ। सातवें वर्ष में मुझे

स्थानीय (मण्डलेश्वर की) पाठशाला में प्रविष्ट किया। इस अवधि में मेरे एक भाई और एक बहन हुई। पर वे दोनों अकाल में ही कालकवलित हो गये। माता-पिता ने उपनयनोचित (आठ वर्ष की) अवस्था में मुझे गुरुकुल भेजने का निश्चय कर लिया था और आठवें वर्ष के मध्य में गुरुकुल कांगड़ी (हरद्वार) से मुझे प्रविष्ट करने की अनुमति भी प्राप्त कर ली थी, परन्तु विधाता को यह स्वीकार न था। अतः कुछ समय पूर्व ही मेरी माता का स्वर्गवास हो गया। इस कारण पिताजी ढाई तीन वर्ष अन्यमनस्क रहे। मुझे तत्काल गुरुकुल में अध्ययनार्थ न भेज सके।

१९२१ में महात्मा गान्धी का असहयोग आन्दोलन चल रहा था। अमृतसर के जलियांवाला बाग का नरमेध हो चुका था। उन दिनों देशोद्धारक स्वामी दयानन्द सरस्वती के सभी अनुयायी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से स्वतन्त्रता-संग्राम में बढ़ चढ़ कर भाग ले रहे थे। अतः पिताजी ने भी महात्मा गान्धी के **'स्कूल कालेज छोड़ो'** आदेश के अनुसार मुझे राजकीय पाठशाला से उठाकर पूर्व संकल्पानुसार ब्राह्मणोचित वेद-वेदाङ्ग के अध्ययनार्थ गुरुकुल भेजने का विचार किया। अवस्था अधिक हो जाने के कारण गुरुकुल कांगड़ी में मुझे प्रवेश नहीं मिला। अतः उस समय सान्ताक्रुज बम्बई में चल रहे गुरुकुल में मुझे भेजा। उस समय मैं प्राइमरी उत्तीर्ण कर पाचवीं में पढ़ रहा था। मराठी और गुजराती भाषा का भी मुझे परिज्ञान था। अतः मैं उस समय प्रविष्ट होने वाले ३५ ब्रह्मचारियों में बौद्धिक परीक्षा में सर्वप्रथम आया। यहां भी प्रवेश पाना विधाता को स्वीकार न था। जन्मजात पैरों की विकृति के कारण शारीरिक परीक्षा में डाक्टर ने अनुत्तीर्ण कर दिया। अतः स्वामी दयानन्द के अनुयायी होते हुए भी वेदपाठी ब्राह्मण बनाने की अदम्य इच्छा के कारण सनातन धर्म के ऋषिकुल (हरद्वार) में प्रविष्ट कराने का विचार किया और पत्र-व्यवहार करके अनुमति प्राप्त कर ली।

दैव-गति विचित्र होती हैं। उसे मानव कभी जान नहीं सकता। विधाता के प्रत्येक कार्य में मानव का हित निहित होता है। इसी के अनुरूप ऋषिकुल में प्रविष्ट कराने से पूर्व ही आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के 'आर्यमित्र' (साप्ताहिक) में स्वामी सर्वदानन्द जी के

साधु आश्रम (पुल काली नदी, अलीगढ़) की एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई। इसमें स्वामी दयानन्द निर्दिशित **'आर्ष पाठविधि'** के अनुसार अध्ययनाध्यापन का उल्लेख था। उसे पढ़कर पिताजी ने उक्त आश्रम के आचार्यजी से पत्र-व्यवहार किया। उन्होंने मुझे अपने आश्रम में प्रविष्ट कर लेने की अनुमति दे दी।

३ अगस्त १९२१ को पिता जी मुझे लेकर श्री स्वामी सर्वदानन्द जी के आश्रम में पहुंचे। वहां की सब व्यवस्था देखकर और सन्तुष्ट होकर मुझे गुरुजनों को सौंप दिया। उस समय आश्रम में **श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, श्री पं० शंकरदेवजी एवं श्री पं० बुद्धदेवजी** (धारवाले) अध्यापन कार्य करते थे। पांच मास के पश्चात् ही विद्यालय **गण्डासिंहवाला अमृतसर** में स्थानान्तरित हो गया। वहां इसका नाम **विरजानन्द आश्रम** रखा गया। कुछ समय पश्चात् श्री पं० बुद्धदेवजी आश्रम से पृथक् हो गये। कुछ कारणों से 'सर्वहितकारिणी' नाम्नी संचालकसमिति आश्रम को अधिक दिन न चला सकी। अतः दोनों गुरुजन १२-१३ ब्रह्मचारियों को लेकर काशी चले गये। आय की यथावत् स्थिति न होने से एक समय अन्नक्षेत्र में भोजन करते कराते हमें व्याकरण पढ़ाते रहे और स्वयं दर्शनशास्त्रों का अध्ययन करते रहे। सन् १९२८ के आरम्भ में अमृतसर के प्रसिद्ध कागज के व्यापारी **लाला रामलाल कपूर** का स्वर्गवास हुआ (गण्डासिंहवाला में विरजानन्द आश्रम के लिए जितनी कागज कापी आदि की आवश्यकता होती थी, उसकी पूर्ति ये ही करते थे)। तदनन्तर इनके वैदिक धर्मनिष्ठ पुत्रों ने श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु को काशी से बुलाकर उनकी सम्मति से अपने पिता की स्मृति में **रामलाल कपूर ट्रस्ट** की स्थापना की और ब्रह्मचारियों के सहित अमृतसर आने का अनुरोध किया। तदनुसार श्री पं० ब्रह्मदत्त जी (इस समय तक श्री पं० शंकरदेव जी भी आश्रम से पृथक् हो गये थे) सभी छात्रों के सहित अमृतसर चले गये और सन् १९३१ के अन्त तक अमृतसर में रहे। इस अवधि में मैंने श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु[1] से पातञ्जल महा-

---

१. इनको सन् १९६३ में राष्ट्रपति ने संस्कृतभाषा की विशेष सेवा के लिये सम्मानित किया था।

भाष्य पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण, निरुक्तशास्त्र एवं अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया था।

पूर्व काशीवास के समय पूज्य गुरुवर्य पूर्वमीमांसा शास्त्र का अध्ययन न कर सके थे। उसकी न्यूनता उन्हें बराबर खलती रही। अतः मीमांसा दर्शन के विशिष्ट अध्ययन के लिये हम सभी छात्रों को साथ में लेकर सन् १९३१ के अन्त में पुनः काशी गये। वहां मैंने स्व० श्री म० म० **चिन्नस्वामीजी शास्त्री** और श्री पं० **पट्टाभिरामजी शास्त्री** से समग्र पूर्वमीमांसा का, श्री पं० **ढुण्ढिराज जी** शास्त्री से न्याय वैशेषिक के अनेक प्राचीन दुष्कर ग्रन्थों का, श्री पं० **भगवत्-प्रसादजी मिश्र** वेदाचार्य से कर्मकाण्ड, विशेषकर कात्यायन श्रौतसूत्र का अध्ययन किया। कतिपय अन्य विषयों का भी अन्य गुरुजनों से अध्ययन किया। तदनन्तर सन् १९३५ में काशी से लौटकर लाहौर में रावी पार बारहदरी के समीप रामलाल कपूर के उद्यान में आश्रम की स्थिति हुई। यहां रहते हुए स्व० श्री पं० **भगवद्दत्त जी** के सान्निध्य में भारतीय प्राचीन इतिहास तथा अनुसन्धान कार्य की शिक्षा प्राप्त की।

इस प्रकार सन् १९२१ से १९३५ तक श्री गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु तथा अन्य मान्य गुरुजनों के चरणों में रहकर संस्कृत वाङ्मय के विविध विषयों का अध्ययन किया, परन्तु कोई राजकीय परीक्षा नहीं दी। अप्रेल १९३६ में विरजानन्दाश्रम (लाहौर) का मैं विधिवत् स्नातक बना। इससे कुछ मास पूर्व २६ दिसम्बर १९३५ को मेरे पिताजी का इन्दौर राज्य के नन्दवाई ग्राम (चित्तौड़गढ़ से ३० मील दूर) में अध्यापन कार्य करते हुए एक मतान्ध स्थानीय राजकीय मुसलमान डाक्टर द्वारा मारक इञ्जेक्शन देने के कारण स्वर्गवास हो गया था। २ जून १९३६ को मेवाड़ अन्तर्गत शाहपुरा के श्री प० मूलचन्दजी तुगनायत (त्रिगुणातीत) की पुत्री एवं श्री पं० भगवान्-स्वरूपजी (अजमेर) द्वारा पालिता 'यशोदा देवी' के साथ मेरा विवाह हुआ। इस समय मेरे तीन पुत्र और दो पुत्रियां हैं। ये सभी अपने-अपने व्यवसायों वा घरों में सुव्यवस्थित हैं।

राजकीय परीक्षा के परित्याग के कारण जीवन-निर्वाह का निश्चित साधन न होने से स्वीय परिवार के निर्वाहार्थ यत्र तत्र विविध

कार्य करते हुए भी संस्कृत वाङ्मय की श्रीवृद्धि तथा ऋषि-ऋण-निर्मोचन के लिए अध्ययन-अध्यापन और शोध-कार्य में अद्य यावत् यथाशक्ति संलग्न हूं। मैंने अपने जीवन में जो कुछ भी कार्य किया है, उसका प्रधान श्रेय मेरी सहधर्मिणी यशोदादेवी को है जिसने ब्राह्मणोचित अयाचित-वृत्ति से प्राप्त स्वल्प आय में परिवार का भरणपोषण करते हुए जीवन निर्वाह करने में मुझे पूर्ण सहयोग दिया है।

अध्ययन और विवाह के अनन्तर संस्कृत-वाङ्मय के रक्षण और प्रचार के लिये किये गये अध्यापन और शोधकार्य का विवरण प्रस्तुत किया जाता है—

कृतकार्य-विवरण

मैंने परिवार के निर्वाह के लिये भी अद्य यावत् प्रधानतया दो प्रकार के कार्यों का ही आश्रय लिया है। प्रथम अध्यापन, द्वितीय शोध-कार्य।

(१) अध्यापन-कार्य

मैंने संस्कृत-वाङ्मय के अध्यापन का कार्य दो प्रकार से किया। एक किसी संस्था के साथ संबद्ध होकर और दूसरा स्वतन्त्ररूप से यथा—

(क) सन् १९३६ से १९४२ पर्यन्त लाहौर रावी पार 'विरजानन्द साङ्गवेदविद्यालय' में महाभाष्यपर्यन्त पाणिनीय व्याकरण और निरुक्त शास्त्र का अध्यापन कार्य किया।

(ख) सन् १९४३—४५ पर्यन्त अजमेर में रहते हुये स्वतन्त्ररूप से महाभाष्य और निरुक्त आदि का अध्यापन किया।

(ग) सन् १९४६ से ३१ जुलाई १९४७ तक लाहौर के पूर्व निर्दिष्ट विद्यालय में अध्यापन कार्य किया।

(घ) सन् १९४७ के देश-विभाजन के पश्चात् सन् १९४७ के अन्त से १९५० के आरम्भ तक अजमेर में रहते हुये स्वतन्त्ररूप से व्याकरणशास्त्र का अध्यापन करता रहा।

(ङ) सन् १९५०—५५ के आरम्भ तक लाहौर से स्थानान्तरित

'विरजानन्द साङ्गवेदविद्यालय' अपर नाम 'पाणिनि महाविद्यालय' (मोतीझील) वाराणसी में अध्यापन कार्य किया।

(च) सन् १९५५ से १९५९ के आरम्भ तक देहली में स्वतन्त्र-रूप में शास्त्री और संस्कृत एम० ए० के छात्रों को पढ़ाता रहा।

[सन् १९५९ के मई मास से सन् १९६१ तक 'महर्षि दयानन्द स्मारक महालय' टंकारा में शोध कार्य किया।]

(छ) सन् १९६२ से १९६६ तक अजमेर में अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, पूर्वमीमांसा तथा कात्यायन श्रौत्रसूत्र आदि का स्वतन्त्ररूप से अध्यापन करता रहा।

(ज) सन् १९६७ में केन्द्र द्वारा भुवनेश्वर (उड़ीसा) में स्थापित 'सान्ध्य संस्कृत महाविद्यालय' में ३ मास तक आचार्य पद पर कार्य किया। वहां का जलवायु स्वास्थ्य के अनुकूल न होने से मुझे यह स्थान छोड़ना पड़ा।

(झ) जुलाई १९६७ से रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) के पाणिनि विद्यालय में यथासम्भव अध्यापन कार्य कर रहा हूं।

विशेष—ख—घ च—छ निर्दिष्ट कालों में घर पर अध्ययनार्थ आये हुये छात्रों को निःशुल्क पढ़ाता रहा।

(२) शोध-कार्य

शोध कार्य का आरम्भ—मैंने छात्रावस्था में सन् १९३० से ही शोधकार्य आरम्भ कर दिया था। तब से अब तक निरन्तर इस कार्य में संलग्न हूं।

अध्ययन के पश्चात् सन् १९३६ से जो शोधकार्य किया, वह दो प्रकार का है। एक किसी संस्था के साथ सम्बद्ध होकर दूसरा स्वतन्त्ररूप से।

(क) सन् १९३६ से १९४२; १९४६ से ३१ जुलाई १९४७ तथा १९५०–१९५५ के आरम्भ तक 'विरजानन्द साङ्गवेद विद्यालय' लाहौर में अध्यापनकार्य के साथ-साथ श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा क्रियमाण शोधकार्य में सहयोग देता रहा

(ख) सन् १९४३ से १९४५ तक 'परोपकारिणी सभा अजमेर' का कार्य करते हुये **अथर्ववेद** (शौनकशाखा) और **सामवेद** (कौथुम-शाखा) का विशिष्ट संशोधनकार्य किया (सभा की नीति के अनुसार मेरे द्वारा शोधित संस्करणों पर मेरा नाम नहीं दिया गया)।

(ग) सन् १९४८ से १९५१ के आरम्भ तक 'आर्य साहित्य मण्डल अजमेर' में कार्य करते हुए श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित व्याकरण-सम्बन्धी **वेदाङ्गप्रकाश के १४ भागों का** संशोधन कार्य किया। [इनका मुद्रण मेरी अनुपस्थिति होने के कारण ये ग्रन्थ शुद्ध नहीं छपे।]

(घ) सन् १९५५-१९५८ तक क्षीरस्वामी विरचित पाणिनीय धातुपाठ की प्राचीनतम व्याख्या **क्षीरतरङ्गिणी** का सम्पादन, तथा **वैदिकछन्दोमीमांसा** का लेखन-कार्य रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से किया।

(ङ) सन् १९५९—१९६२ तक महर्षि दयानन्द स्मारक महा-लय टङ्कारा (सौराष्ट्र) द्वारा स्थापित **अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष के रूप में** अनुसन्धान कार्य किया। इस काल में स्वामी दया-नन्द सरस्वती विरचित ४० ग्रन्थों में उद्धृत तथा व्याख्यात २५ पच्चीस सहस्र वचनों की सूची तैयार की। (यह प्रकाशित नहीं हुई)। पञ्जाब की शास्त्री परीक्षा में नियत श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद भाष्य के नियत अंश का सम्पादन तथा प्रकाशन, और गोपथ ब्राह्मण के कुछ भाग के अनुवाद और व्याख्या का कार्य किया।

(च) १३ अप्रेल १९६१ के दिन मैंने कतिपय मित्रों के सहयोग से अजमेर में **भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान** की स्थापना की। और उसके उद्देश्य के अनुसार शोधकार्य तथा संस्कृत-वाङ्मय के प्राचीन दुरूह ग्रन्थों (महाभाष्य निरुक्त पूर्वमीमांसा) का अध्यापन कार्य आरम्भ किया। १ मार्च १९६३ से अन्य सब कार्य छोड़कर एकमात्र इसी कार्य में संलग्न हो गया तब से सन् १९६६ तक अनेक ग्रन्थ लिखे, वा प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन वा प्रकाशन का कार्य किया।

(छ) जुलाई १९६७ से आज तक रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) में शोधकार्य कर रहा हूं। इस काल में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को सम्पादित करके प्रकाशित किया है।

(ज) रामलाल कपूर ट्रस्ट के कार्य करते हुए मैंने वैदिक आर्ष-वाङ्मय के प्रकाशन और प्रचार के लिये कई ग्रन्थों का सम्पादन एवं हिन्दी व्याख्या लिखकर (श्री चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट (करनाल), द्राक्षादेवी प्यारेलाल धर्मार्थ ट्रस्ट (देहली) तथा सावित्रीदेवी बागड़िया धर्मार्थ ट्रस्ट (कलकत्ता) के द्वारा प्रकाशित करवाया।

सन् १९६१ से आजतक लिखे गये शोध ग्रन्थों और सम्पादित ग्रन्थों का वर्णन आगे किया जायेगा।

विशिष्ट शोधपूर्ण लेख

मेरे संस्कृत-वाङ्मय, विशेषकर वेद और व्याकरणविषय में जो शोधपूर्ण अनेक लेख संस्कृत और हिन्दी में प्रकाशित हुये, उनमें से कतिपय विशिष्ट लेख इस प्रकार हैं—

संस्कृतभाषा में निबद्ध लेख—

१. **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**—**इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः।** इस निबन्ध में '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' इस सूत्र पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वथा नये रूप में विचार किया है। वेदवाणी (वाराणसी) मासिक-पत्रिका में यह लेख छपा था। सन् १९५२

२. **वैदिकछन्दः-संकलनम्**—इस लेख में निदानसूत्र, उपनिदान-सूत्र, पिङ्गल छन्दःशास्त्र, ऋक्प्रातिशाख्य, ऋक्सर्वानुक्रमणी आदि ग्रन्थों में वैदिक छन्दःसम्बन्धी जितने भेद-प्रभेद दर्शाये हैं, उन सब का संकलन किया है। यह लेख 'सारस्वती-सुषमा' (वाराणसी) वर्ष ९ अङ्क १,२ में प्रकाशित हुआ। सन् १९५४

३. **ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या**—ऋग्वेद की ऋग्गणना सम्बन्धी मत-भेदों का विवेचन यह 'सारस्वती-सुषमा' (वाराणसी) वर्ष ९ अंक ३, ४; वर्ष १० अङ्क १—४ में छपा है। सन् १९५५

४. **यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः**—इस लेख में यजुर्वेदसम्बन्धी शुक्लकृष्ण भेदों की मीमांसा की है। यह सारस्वती-सुषमा (वाराणसी) वर्ष ११ अंक १—२ में छपा है। सन् १९५६

५. **काशकृत्स्नीयो धातुपाठः**—इसमें कन्नड लिपि में कन्नडटीका

सहित प्रकाशित काशकृत्स्न धातुपाठ का परिचय दिया है। यह 'संस्कृत रत्नाकर' (देहली) पत्रिका के वर्ष १७ अंक १२ में छपा है।

६. **अष्टाध्याय्या अर्धजरतीया व्याख्या**—इसमें अर्वाचीन वैयाकरणों द्वारा की गई अष्टाध्यायी की व्याख्या की आलोचना की है। 'सारस्वती-सुषमा' (वाराणसी) भाद्र संवत् २०१७। सन् १९६०

७. **भारतीयं भाषाविज्ञानम्**—भाषाविज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय मत की विवेचना। यह लेख बड़ौदा की 'संस्कृत-विद्वत्सभा' में अगस्त १९६० में पढ़ा गया। 'गुरुकुल पत्रिका' के मई, जून, जुलाई के अङ्कों में प्रकाशित। सन् १९६१

८. **आदिभाषायां प्रयुज्यमानानाम् अपाणिनीयप्रयोगाणां साधुत्व-विवेचनम्**—इस लेख में संस्कृतभाषा के प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में प्रयुज्य-अपाणिनीय पदों के साधुत्व की विवेचना की है। 'वेदवाणी' (वाराणसी) वर्ष १४ अंक १,२,४,५ में प्रकाशित। सन् १९६१-६२

९. **वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च**—यह लेख राजस्थान संस्कृत सम्मेलन (सन् १९६६) के भीलवाड़ा (राज०) के अधिवेशन के अवसर पर वेद-परिषद् के सभापति-भाषण के रूप में पढ़ा था (सम्मेलन द्वारा मुद्रापित)। यह लेख गुरुकुल-पत्रिका के अंकों में और संस्कृत-रत्नाकर में भी प्रकाशित हुआ। सन् १९६६

१०. **संस्कृतभाषाया राष्ट्रभाषात्वम्**—यह लेख 'राजस्थान संस्कृत सम्मेलन' के भीलवाड़ा अधिवेशन (सन् १९६६) के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका में छपा है। यह अगस्त सितम्बर अक्टूबर सन् १९६६ की 'गुरुकुल पत्रिका' में भी छपा है। सन् १९६६

११. **असाधुत्वेनाभिमतानां संस्कृतवाङ्मये प्रयुक्तानां शब्दानां साधुत्वासाधुत्वविवेचनम्**—यह लेख 'अखिल भारतवर्षीय संस्कृत-साहित्य सम्मेलन' के अक्टूबर १९६६ के देहली अधिवेशन में पढ़ा गया था। यह अप्रेल मई १९६७ की 'गुरुकुल-पत्रिका' में छपा है।

१२. **श्रीमद्भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्**—यह लेख 'आर्यप्रतिनिधि सभा राजस्थान की हीरक जयन्ती के अवसर पर 'वेद-सम्मेलन' अजमेर (नवम्बर १९६६) में पढ़ा था। यह 'गुरुकुल-पत्रिका' के जनवरी फरवरी के अंक में छपा है। १९६७

१३. **वेदसम्मेलनस्याध्यक्षीयं भाषणम्**—'राजस्थान संस्कृत परिषद्' के अजमेर नगर में १६-१८ मार्च १९७५ में हुए द्वितीय अधिवेशन में वेद-सम्मेलन के अध्यक्ष का भाषण। परिषद् द्वारा मुद्रापित। सन् १९७५

हिन्दी में निबद्ध लेख—

१. **महाभाष्य से प्राचीन अष्टाध्यायी की सूत्रवृत्तियों का स्वरूप।** 'ओरियण्टल मेगजीन' (लाहौर) में छपा। सन् १९३९

२. **वेद के अनुक्रमणीसंज्ञक ग्रन्थ और तत्प्रतिपादित ऋषि-देवता-छन्दों पर विचार**—'दयानन्द-सन्देश' (देहली) में छपा। सन् १९३९

३. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—प्रथमवार, 'वैदिकधर्म' (औंध--जि० सातारा) में छपा। सन् १९४४

परिष्कृत संस्करण 'सरस्वती' (प्रयाग) में छपा। सन् १९५०

४. **महाभाष्य के टीकाकार आचार्य भर्तृहरि**--'जर्नल ऑफ दि यूनाइटेड प्रोवेंसिस् हिस्टोरिकल सोसाइटी' (लखनऊ) सन् १९४८

५. **सामस्वराङ्कनप्रकार**--सामवेद की मन्त्रसंहिता और उसके पदपाठ में प्रयुक्त स्वराङ्कन प्रकार की सोदाहरण व्याख्या। 'वेदवाणी' (वाराणसी) सन् १९४९

६. **संस्कृत-व्याकरण का संक्षिप्त परिचय**—'कल्याण' पत्रिका (गोरखपुर) के 'हिन्दू-संस्कृति' अंक में छपा। सन् १९५०

७. **आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय**—'सरस्वती' (प्रयाग) सन् १९५०

८. **ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार**--'वेदवाणी' (वाराणसी) सन् १९५२

९. **दुष्कृताय चरकाचार्यम्**—मन्त्र पर विचार--'वेदवाणी' (वाराणसी) सन् १९५२

१०. **दशमे मासि सूतवे**—मन्त्र पर विचार—यह 'कल्याण' पत्रिका (गोरखपुर) के 'बालक अंक' सन् १९५३

११. **भारतीय संस्कृति में नारी**—'सम्मेलन पत्रिका' (प्रयाग) सन् १९५३

१२. **वेद प्रतिपादित आत्मा का शरीर में स्थान**--'वेदवाणी' (वाराणसी) सन् १९५३

(परिष्कृत संस्करण, 'सरस्वती', प्रयाग) सन् १९५५

१३. **वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन**— 'वेदवाणी' (वाराणसी) सन् १९५४

१४. **जैनेन्द्र व्याकरण और उसके खिल-पाठ**—'काशी ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित जैनेन्द्र-महावृत्ति के आरम्भ में मुद्रित। सन् १९५६

१५. **मूल पाणिनीय शिक्षा**—इसमें पाणिनीय शिक्षा के विविध पाठों की विवेचना करके सूत्रात्मक शिक्षा के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। 'साहित्य' पत्रिका (पटना)। सन् १९५९

१६. **काशकृत्स्न व्याकरण और उसके उपलब्ध सूत्र**—चन्नवीर कवि कृत काशकृत्स्न धातुपाठ की कन्नड टीका के आधार पर काशकृत्स्न व्याकरण का परिचय तथा उसमें उद्धृत १३५ सूत्रों की व्याख्या सहित। 'साहित्य' (पटना)। सन् १९६०,६१

संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन

१. **निरुक्त-समुच्चयः**—वररुचिकृत यह नैरुक्त सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रन्थ है। निरुक्त-टीकाकार स्कन्दस्वामी ने इसे बहुत स्थानों पर उद्धृत किया है। इसके एकमात्र अशुद्धि-बहुल व त्रुटित हस्तलेख से सम्पादन कार्य किया है। 'ओरियण्टल मेगजीन' (लाहौर) में प्रथमवार प्रकाशित हुआ। सन् १९३८

द्वितीय संस्करण सन् १९६५

तृतीय संस्करण सन् १९८३

२. **भागवृत्ति-संकलनम्**—अष्टाध्यायी की अति प्राचीन विलुप्त भागवृत्ति नाम्नी वृत्ति के शतशः पाठ प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। मुद्रित तथा लिखित लगभग २०० ग्रन्थों का पारायण करके इस वृत्ति के पाठों का संकलन करके टिप्पणियों के सहित प्रकाशित किया है। प्रथम संस्करण 'ओरियण्टल मेगजीन', (लाहौर) सन् १९४०

परिष्कृत ,, (सारस्वती सुषमा, काशी) सन् १९५४

परिवर्धित ,, (पुस्तकरूप में) सन् १९६५

३. **दशपाद्युणादिवृत्तिः**—पाणिनीय व्याकरण सम्प्रदाय में यह वृत्ति अत्यन्त प्रामाणिक मानी जाती है। परन्तु इसके हस्तलेख अति दुर्लभ हो गये हैं। अत्यन्त प्रयास से इसके विविध स्थानों से अनेक हस्तलेख उपलब्ध करके शतशः अन्य ग्रन्थों के साहाय्य से इस वृत्ति का सम्पादन किया है। आरम्भ में ५५ पृष्ठों में संस्कृतभाषा में उणादिसूत्र और उनकी वृत्तियों का इतिहास लिखा है। यह वृत्ति राजकीय संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी (वर्त्तमान संस्कृत विश्व-विद्यालय) की सरस्वती-भवन ग्रन्थावली में प्रकाशित हुई है।
सन् १९४२

४. **शिक्षा-सूत्राणि**—आचार्य आपिशलि, पाणिनि और चन्द्रगोमी के मूलभूत शिक्षासूत्रों का सम्पादन तथा प्रकाशन। सन् १९४६

परिष्कृत वा परिवर्धित संस्करण। सन् १९६७

५. **क्षीर-तरङ्गिणी**—पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर क्षीर-स्वामी विरचित क्षीर-तरङ्गिणी नाम्नी सबसे प्राचीन व्याख्या का सम्पादन। इसमें लगभग ७०० महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों में अनेक विषयों का स्पष्टीकरण किया है। आरम्भ में संस्कृत में ४० पृष्ठों में पाणिनीय धातुपाठ और उनके व्याख्या-ग्रन्थों का इतिहास लिखा है। (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित)। सन् १९५८

६. **दैवं पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्**—पाणिनीय धातुपाठ पर प्राचीन अतिप्रामाणिक ग्रन्थ का विविध प्रकार की लगभग ६५० टिप्पणियों के साथ सम्पादन तथा प्रकाशन। सन् १९६२

७. **काशकृत्स्न-धातुपाठ**—की चन्नवीर कविकृत कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर तथा सम्पादन। **उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत।**
सन् १९६५

८. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्**—काशकृत्स्न-व्याकरण का परिचय, तथा उपलब्ध १३५ सूत्रों की संस्कृत में व्याख्या। सन् १९६५

९. **माध्यन्दिन-पदपाठ**—वि० संवत् १४७१ के विशिष्ट हस्तलेख तथा अन्य विविध मुद्रित वा हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर आदर्श संस्करण का सम्पादन। इस कार्य पर राजस्थान सरकार ने ३ वर्ष तक १५०-०० डेढ़ सौ रुपया मासिक सहायता दी है। **उत्तरप्रदेश शासन से पुरस्कृत।** सन् १९७१

१०. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ग्रन्थ के सटिप्पण संस्करण का सम्पादन। सन् १६६७

११. ऋग्वेद-भाष्यम्—स्वामी दयानन्द कृत ऋग्वेदभाष्य का सम्पादन, सहस्रों टिप्पणियों एवं १०-१२ प्रकार के परिशिष्टों के सहित। भाग १-२-३ प्रकाशित तीनों भाग उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत। सन् १६७२-७६

१२. उणादि-कोष—स्वामी दयानन्द सरस्वती विरचित पञ्चपादी उणादिपाठ की उणादिकोष नाम्नी व्याख्या का सम्पादन।

सन् १६७४

१३. महाभाष्य (हिन्दी व्याख्या)—पतञ्जलि मुनि विरचित महाभाष्य की हिन्दी व्याख्या। भाग १-२-३ मुद्रित। द्वितीय तथा तृतीय भाग **उत्तरप्रदेश राज्य से पुरस्कृत।** सन् १६७२-७६

१४. मीमांसा-शाबर-भाष्य हिन्दी-व्याख्या—जैमिनिमुनि प्रोक्त मीमांसा शास्त्र पर सबसे प्राचीन भाष्य शबर स्वामी का है। इस पर **आर्षमतविमर्शिनी** नाम्नो हिन्दी व्याख्या लिखी जा रही है। अभी तक ४ भाग छपे हैं। इनमें मीमांसा के ५ अध्यायों की व्याख्या है।

सन् १६७७-८४

१५. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—प्रस्तुत तृतीय संस्करण में दो भागों में ऋ० द० के पत्रों और विज्ञापनों का संग्रह है और तृतीय चतुर्थ भाग में ऋ० द० के प्रति अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखित पत्रों और विज्ञापनों का संग्रह किया है। द्वितीय और चतुर्थभाग के अन्त में पत्रों से सम्बद्ध अनेक परिशिष्ट जोड़े गये हैं।

सन् १६८१-१६८३

मौलिक शोध-पूर्ण ग्रन्थ

१. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग १)—इस ग्रन्थ में पाणिनि से प्राचीन तेईस वैयाकरणों का इतिवृत्त, उनमें अनेक आचार्यों के उपलब्ध सूत्रों का संकलन, पाणिनि और उसके व्याकरण पर टीका-टिप्पणी लिखनेवाले लगभग १६० आचार्यों, तथा पाणिनि से उत्तरवर्त्ती १८ प्रमुख व्याकरण-प्रवक्ताओं, और उनके लगभग १०० व्याख्याताओं का इतिहास लिखा गया है। न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी

में, अपितु संसार की किसी भी भाषा में संस्कृत व्याकरण-शास्त्र के इतिहास पर इतना विस्तृत ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ।

प्रथम संस्करण (उत्तरप्रदेश सरकार से पुरस्कृत)		सन् १९५१
द्वितीय परिवर्धित संस्करण (१५० पृष्ठ बढ़े)		सन् १९६३
तृतीय ,, ,,	(५० पृष्ठ बढ़े)	सन् १९७३
चतुर्थ ,, ,,	(८४ पृष्ठ बढ़े)	सन् १९८४

२. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग २)**—इसमें व्याकरणशास्त्र के परिशिष्टरूप धातुपाठ उणादिसूत्र लिङ्गानुशासन परिभाषापाठ और फिट्सूत्रों के प्रवक्ताओं और व्याख्याताओं का इतिवृत लिखा गया है। अन्त में प्रातिशाख्यों के प्रवक्ता और व्याख्याता, व्याकरण शास्त्र के दार्शनिक ग्रन्थकार तथा व्याकरणप्रधान लक्ष्यात्मक काव्यग्रन्थों के रचयिताओं का इतिहास भी दे दिया है।

प्रथम संस्करण		सन् १९६२
द्वितीय परिवर्धित संस्करण	(५८ पृष्ठ बढ़े)	सन् १९७३
तृतीय ,, ,,	(३३ पृष्ठ बढ़े)	सन् १९८४

३. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास (भाग ३)**—इसमें अवशिष्ट विषय तथा अनेक परिशिष्ट तथा सूचियां आदि दी हैं।

प्रथम संस्करण		सन् १९७३
परिवर्धित संस्करण	(१०८ पृष्ठ बढ़े)	सन् १९८५

४. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—इसमें वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त उदात्त अनुदात्त स्वरित आदि स्वरों का वाक्यार्थ के साथ क्या संबन्ध है, स्वर-परिवर्तन से अर्थ में किस प्रकार परिवर्तन होता है, स्वर-शास्त्र की उपेक्षा से वेदार्थ में कैसी भयंकर भूलें होती हैं, इत्यादि अनेक विषयों का सोपपत्तिक सोदाहरण प्रतिपादन किया है। अन्त में वैदिक उदात्तादि स्वरों के विभिन्न प्रकार के संकेतों स्वरचिह्नों की सोदाहरण व्याख्या की है। परिशिष्ट में मन्त्र-संहिता पाठ से पदपाठ में परिवर्तन के नियमों की सोदाहरण विवेचना की है। द्वितीय संस्करण में पाणिनीय व्याकरण के अनुसार स्वर विषय का संक्षेप से ज्ञान कराने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत 'सौवर' ग्रन्थ भी अन्त में जोड़ दिया है।

प्रथम संस्करण (उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत) सन् १९५८।
द्वितीय „ (इसमें लगभग ७०-८० पृष्ठ बढ़े हैं) सन् १९६३।
तृतीय „ सन् १९८५

५. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—इसमें वैदिक वाङ्मय से सम्बन्ध रखने-वाले ५-६ उपलब्ध छन्दःशास्त्रों के अनुसार सभी छन्दों के भेद-प्रभेदों के लक्षण और उदाहरण दर्शाये हैं। साथ में छन्दोज्ञान की वेदार्थ में उपयोगिता, छन्दःपरिवर्तन के कारण, और छन्दःशास्त्र का संक्षिप्त इतिहास आदि अनेक विषयों का समावेश किया है। वैदिक-छन्दः-सम्बन्धी इतनी विशद विवेचना किसी भी भाषा के ग्रन्थ में नहीं की गई है।

प्रथम संस्करण (उत्तरप्रदेश सरकार से पुरस्कृत) सन् १९६०।
द्वितीय परिवर्धित संस्करण (२० पृष्ठ बढ़े) सन् १९७९।

६. **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—इस ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रत्येक ग्रन्थ का विशद इतिहास दिया है। उनके ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों और उस समय तक अमुद्रित ग्रन्थों का विस्तृत विवरण दिया है। अनेक परिशिष्टों में विविध प्रकार की प्राचीन उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री का संकलन किया है।

प्रथम संस्करण सन् १९५०
द्वितीय परिष्कृत तथा परिवर्धित सं० (१३२ पृष्ठ बढ़े) सन् १९८३

७. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या** (हिन्दी तथा संस्कृत)—ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों में अत्यन्त मतभेद है। इस निबन्ध में सभी लेखकों की दी गई ऋक्संख्या की विवेचना और उनकी गणना-सम्बन्धी भूलों का निदर्शन कराते हुये वास्तविक ऋग्गणना दर्शाई है। कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

अप्रकाशित ग्रन्थ—

८. **छन्दःशास्त्र का इतिहास।**
९. **शिक्षा-शास्त्र का इतिहास।**
१०. **निरुक्त शास्त्र का इतिहास।**

इन ग्रन्थों की सामग्री का संकलन तो बहुत वर्ष पूर्व कर चुका

था, परन्तु कार्याधिक्य से लिख न सका। अब स्वास्थ्य अत्यन्त गिर जाने से इनका प्रकाशन सम्भव नहीं।

विशिष्ट सम्मान एवं पुरस्कार

पूर्व लिखित लगभग ५० वर्ष के संस्कृत भाषा के अध्यापन तथा उसमें किये गये विविध शोधकार्य के लिये जो विशिष्ट सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त हुए वे इस प्रकार हैं—

विशिष्ट सम्मान—

१—राजस्थान राज्य के संस्कृत विभाग ने वेद और व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी शोधकार्य पर ३०००-०० रुपया देकर सम्मानित किया। सन् १९६३

२—भारत के राष्ट्रपति ने संस्कृत भाषा की उन्नति और विस्तार तथा साहित्यिक सेवा के लिये सम्मानित किया। सन् १९७७

(राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित व्यक्ति को सरकार सम्प्रति ५००० रु० वार्षिक सहायता देती है।)

३—उत्तर प्रदेश शासन ने व्याकरण शास्त्र सम्बन्धी विशिष्ट सेवा के लिये १५०००-०० का विशिष्ट पुरस्कार दिया। नव० १९७९

ग्रन्थों पर पुरस्कार—उत्तर प्रदेश शासन द्वारा

१. सं० व्या० शास्त्र का इ० भाग १ पर ६००-०० सन् १९५२
२. वैदिक स्वर-मीमांसा पर ७००-०० सन् १९५९
३. वैदिक छन्दोमीमांसा पर ५००-०० सन् १९६१
४. काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् पर ५००-०० सन् १९७२
५. माध्यन्दिन-पदपाठ पर ५००-०० सन् १९७३
६. महाभाष्य-हिन्दी व्याख्या, भाग २ पर ५००-०० सन् १९७४
७. ऋग्वेदभाष्य (स्वा० द०स०) भाग १ पर २५००-०० सन् १९७५
८. ऋग्वेदभाष्य ,, ,, भाग २-३ पर ३०००-०० सन् १९७६
९. महाभाष्य-हिन्दी व्याख्या, भाग ३ पर ३०००-०० सन् १९७६

(इस के पश्चात् उ० प्र० सरकार के उत्तर प्रदेशीय लेखकों तक यह पुरस्कार सीमित कर देने से अगले ग्रन्थों पर प्राप्त नहीं हो सका।

विशिष्ट संस्थाओं द्वारा सम्मान—

१. आर्यसमाज (बड़ा बाजार) पानीपत द्वारा १९०१-००
सन् १९७५

२. गङ्गाप्रसाद उपाध्याय स्मारक समिति द्वारा 'वैदिक सिद्धान्त मीमांसा' पर गङ्गाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार १२००-००

३. दयानन्द बलिदान (निर्वाण) शताब्दी के अवसर पर परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा १०००-०० सन् १९८३

४. श्री घूड़मल आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट (हिण्डौन सिटी) द्वारा 'मीमांसा शाबर भाष्य' की हिन्दी व्याख्या पर १२०१-०० सन् १९८४

५. आर्यसमाज (बड़ा बाजार) पानीपत की स्थापना शताब्दी के अवसर पर १५००-०० सन् १९८४

शोधकार्य के लिये विशिष्ट सहायता—राज्यस्थान राज्य के संस्कृत शिक्षा विभाग द्वारा **माध्यन्दिन पदपाठ** पर ३ वर्ष तक १५०-०० मासिक सहायता। सन् १९६५-१९६७

रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

१५. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**—श्री पं० वागीश्वर जी वेदालंकार 'काव्य प्रकाश' आदि के ढंग पर वैदिक-साहित्य पर यह महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखा है। मूल्य ४०-००

१६. **देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-००

१७. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य २-००

१८. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—,, ,, मूल्य २-००

१९. **त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। मूल्य २-००

२०. **शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थ पञ्चक**—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक **चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक-विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन?** ६-००

२१. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा**—ले०पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २०-००, साधारण १६-००।

२२. **वैदिक-पीयूष धारा**—लेखक—श्री देवेन्द्रकुमार कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थ पूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-००।

२३. **उरु-ज्योति**—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याययोग्य ग्रन्थ। सुन्दर छपाई पक्की जिल्द १६-००

२४. **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

२५. **ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS**—**Swami Bhumananda Sarasvati.** ५०-००

२६. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्यसहित (संस्कृत)। ४०-००

२७. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**-पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित २५-००

२८. **कात्यायन-गृह्यसूत्रम्**—(मूल मात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने उसे प्रथम बार छापा है। २०-००

२९. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

३०. **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-००। सस्ता संस्करण मूल्य ५-२५, अच्छा कागज सजिल्द ७-५०

३१. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय**— इस याग में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय याग का वर्णन है। १०-००

३२. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—संस्कार-विधि की व्याख्या। ले०-वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १०-००; सजिल्द १४-००

३३. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। सजिल्द ५-००

३४. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्ति-वाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। मूल्य १-००

३५. **पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप**—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर ५-००

३६. **हवनमन्त्र**—स्वस्तिवाचानादि सहित। ०-५०

३७. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋ० द० कृत हिन्दी व्याख्या ०-६०

३८. **शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र शिक्षा-सूत्र**। ६-००

३९. **शिक्षाशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। ७-५०

४०. **अरबी-शिक्षाशास्त्रम्**—" " ६-५०

४१. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**— नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। मूल्य १००-००

४२. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य १५-००

४३. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। ३-५०

४४. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—(संस्कृत तथा हिन्दी) श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग I ३०-००, भाग II २५-००, भाग III ३०-००

४५. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण ३-००

४६. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**— स्वोपज्ञ व्याख्यासहितम् ८-००

४७. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। भाग I १०-००, भाग II १०-००।

४८. The Tested Easiest Method Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत '**विना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**' भाग एक का अंग्रेजी अनुवाद है। २५-००

४९. **महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्या (द्वितीय अध्याय पर्यन्त) पं० यु० मी०। भाग I ५०-००, भाग II २५-००, भाग III २५-००

५०. **उणादिकोष**—ऋ० द० स० कृत व्याख्या, तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। सजिल्द १२-००

५१. **दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्**—लीलाशुक मुनि कृत १०-००

५२. **काशकृत्स्न-धातु व्याख्यानम्**—संस्कृत रूपान्तर। १५-००

५३. **शब्दरूपावली**—विना रटे रूपों का ज्ञान करानेवाली ३-००

५४. **संस्कृत-धातुकोश**—धातुओं का हिन्दी में अर्थ। १०-००

५५. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध। ५०-००

५६. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्**—वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या। मूल्य—ईशो० १-५०; केनो० १-५०; कठो० ३-५०

५७. **तत्त्वमसि**—श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती मूल्य ४०-००

५८. **ध्यानयोग-प्रकाश**—स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। मूल्य १६-००

५९. **आर्याभिविनय (हिन्दी)**—स्वामी दयानन्द। सजिल्द ४ ००

६०. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। ४-००, सजिल्द ६-००

६१. **विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्रम्**— (**सत्यभाष्य सहितम्**)—सत्यदेव वासिष्ठ कृत वैदिक भाष्य (४ भाग)। प्रति भाग १५-००

६२. **श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्यम्**—पं० तुलसीराम स्वामी ६-००

६३. **अगम्यपन्थ के यात्री को आत्मदर्शन**—चंचल बहिन। ३-००

६४. **शुक्रनीतिसार**—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती। विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक-सूची सहित। मूल्य ४५-००

६५. **विदुर-नीति**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। मूल्य ३६-००

६६. **सत्याग्रह-नीति-काव्य**—आ० स० सत्याग्रह के समय जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित। हिन्दी व्याख्या। मूल्य ५-००

६७. **संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १२५-००

६८. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—इस बार इसमें ऋषि दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गये हैं। इस बार यह संग्रह चार भागों में छपा है। प्रथम दो भागों में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत है। तीसरे और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। प्रत्येक भाग—३५-००। पूरा सेट १४०-००।

६९. **विरजानन्द-प्रकाश**—लेखक—पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्धसंस्करण। मूल्य ३-००

७०. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित्र**—सम्पादक पं० भगवद्दत्त। मूल्य १-००

७१. **ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत-साहित्य को देन**—लेखक—डा० भवानीलाल भारतीय एम०ए०। सजिल्द २०-००

७२. **नाडी-तत्त्वदर्शनम्**—श्री पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ। ३०-००

७३. **मीमांसा-शाबर-भाष्य**—हिन्दी व्याख्या सहित। यु०मी० कृत भाग I ४०-०० भाग II ३०-०० भाग III ५०-०० भाग IV ४०-००

७४. **सत्यार्थप्रकाश**—(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)—१३परिशिष्ट ३५०० टिप्पणियां तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित। राजसस्करण ३५-००, साधारण संस्करण ३०-००

७५. **दयानन्दीय लघुग्रंथ-संग्रह**—१४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। ३०-००

७६. **भागवत-खण्डनम्**—ऋ० द० की प्रथम कृति। अनु०—युधिष्ठिर मीमांसक ३-००

७७. **ऋषि दयानंद के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ ऋषि दयानंद के अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ दिये गये हैं। अनन्तर पूना में सन १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उत्तम कागज, कपड़े की जिल्द। मूल्य लागत-मात्र ३०-००

७८. **दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह**—संख्या ७७ के ग्रन्थ से पृथक स्वतन्त्र रूप से छपा है। सं० डा० भवानीलाल भारतीय। सस्ता संस्करण २०-००

७९. **दयानन्द-प्रवचन-संग्रह**—(पूना-बम्बई प्रवचन)। पूर्ववत् स्वतंत्र रूप में छपा है। अनुवादक और सम्पा० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। सस्ता संस्करण १०-००

८०. **ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। ४०-००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ [सोनीपत-हरयाणा]

रामलाल कपूर एन्ड संस, नई सड़क देहली